निगंठ ज्ञातपुत्त

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—२४५

निगंठ ज्ञातपुत्त

[श्रमण भगवान महावीर की जीवनी]

लेखक
ज्ञानचंद जैन

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

निगंठ ज्ञातपुत्त

प्रथम संस्करण : १९७७
मूल्य : आठ रुपये

मुद्रक : बाबूलाल जैन, महावीर प्रेस, भेलूपुर वाराणसी-१

पूज्य पिता श्री स्व० सुमतिलाल जैन
की स्मृति को

प्रकाशकीय

सामान्य जनता संकुचित विचारों का परिष्कार और उदात्तीकरण तभी कर पाती है जब उसके समक्ष कोई आदर्श व्यक्तित्वसंपन्न, सहृदय प्रेरक और मार्गदर्शक सुलभ हो। लौकिक उन्नति का क्षेत्र हो या आध्यात्मिक साधना का, सर्वत्र उज्ज्वल सत्त्वशाली महानुभाव के संपर्क और निर्देश को पाकर ही लोग उत्साह, साहस, कर्तव्यनिष्ठा, सत्यपरायणता, करुणाशीलता, आत्मत्याग जैसे मानवीय गुणों का विकास कर पाते हैं। हमारे देश में ऐसे उत्कृष्ट आदर्श व्यक्ति प्राचीन काल से अनेकों होते आये हैं, जिनमें वर्धमान महावीर स्वामी विशुद्ध चरित्र और साधना के महान् धनी हुए हैं। इनके अद्भुत त्याग, तपस्या, कष्टसहन, केवल-ज्ञानप्रकाश, प्राणिमात्र के दुःख निवारण, वर्गभेदरहित जन-कल्याण एवं आत्मसिद्धि की सत्य कथा प्रस्तुत पुस्तक में सुनायी गयी है।

महावीर स्वामी का गृहस्थ जीवन जहाँ अत्यन्त उदार, विनीत, सहृदय और उत्तरदायित्व निर्वाहक था, वहीं अध्यात्म पथ में आरूढ होने पर उनकी वाह्य और आन्तरिक समस्त संदेह-ग्रन्थियाँ तपोवल के प्रभाव से सुलझ गयी थीं, जिससे वे 'निगंठ' (निर्ग्रन्थ) उपनाम से विख्यात हुए। जन्म के पूर्व ही विज्ञजनों ने उनकी विशेषताएँ ज्ञात कर ली थीं और परम्परागत ज्ञातृ-कुल के वे सुपुत्र थे, अतएव उनका अन्य स्नेहसिक्त उपनाम ज्ञातपुत्त (त्र) हो गया।

उक्त श्रमण-शिरोमणि 'निगंठ ज्ञातपुत्त' महात्मा का तीर्थंकर (मार्गदर्शक) स्वरूप लखनऊ के शालीन पत्रकार एवं तात्त्विक हिन्दीसेवी श्री ज्ञानचन्द जैन ने प्रस्तुत रचना के अन्तर्गत लिपिबद्ध किया है। आशा है, आदर्श और वास्तविक जीवन पद्धति के अनुरागी पाठक इस कृति को रुचिपूर्वक अपनायेंगे, जिससे उनके यथार्थ और परमार्थ के विचारों में सामंजस्य सिद्ध हो सके।

मदनदहन (होली)
मार्च, १९७७

शिवशंकर मिश्र
सचिव,
हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश शासन
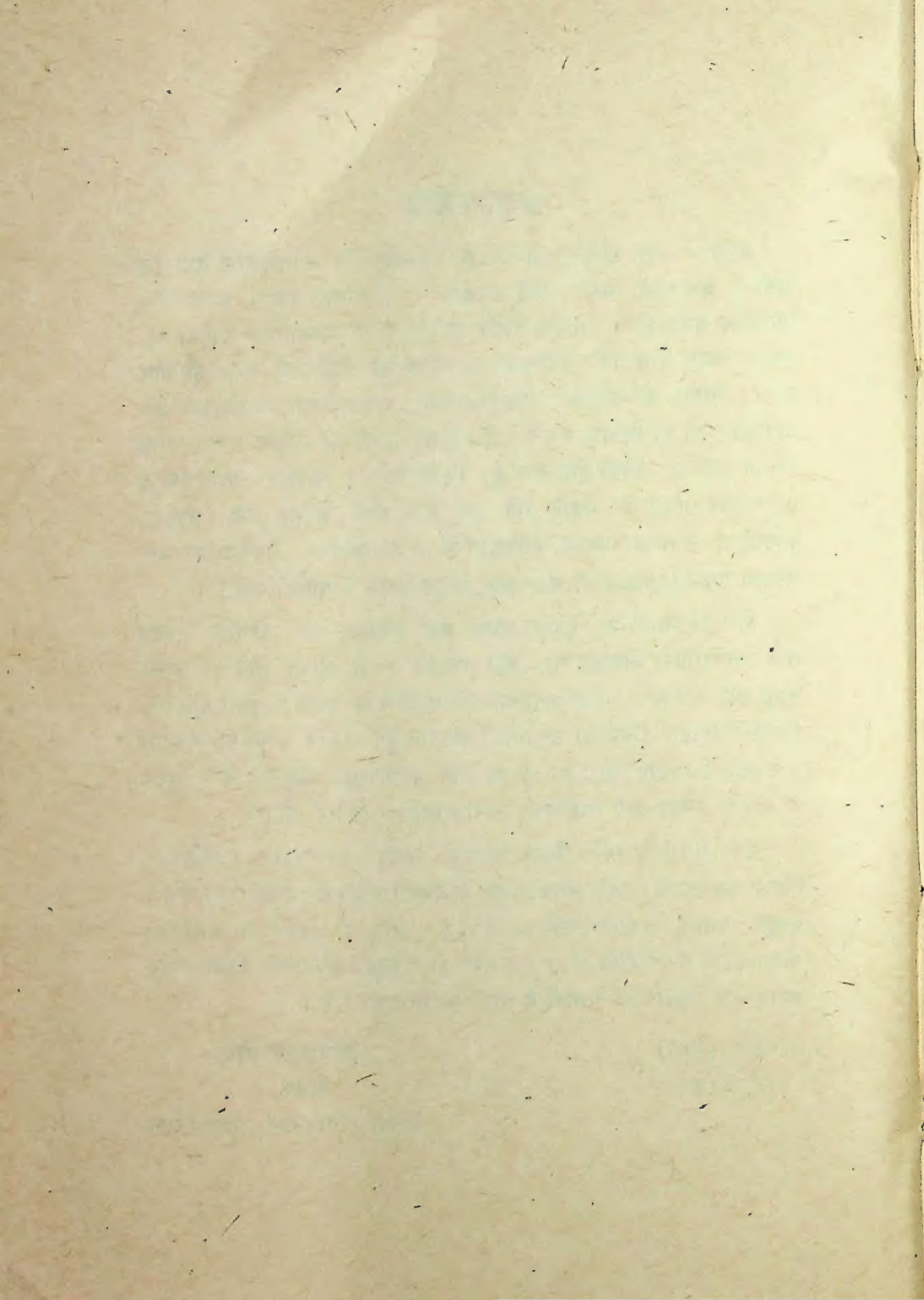
आमुख

ईसा पूर्व छठी शताब्दी हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस शताब्दी में भारत ने मानव जाति को दो महान् शास्ता प्रदान किये—श्रमण भगवान महावीर और श्रमण भगवान बुद्ध। इनमें से एक महाश्रमण की दुंदुभि यदि जम्बूद्वीप (एशिया) के भरतक्षेत्र में बजी तो दूसरे की सारे जम्बूद्वीप में। प्रायः इतिहास ग्रंथों में महावीर का उल्लेख जैनधर्म के उन्नायक तथा बुद्ध का बौद्धधर्म के उन्नायक के रूप में किया जाता है; किन्तु इस तरह के वर्णन से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है, वह यह कि दोनों शास्ता वास्तव में भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण धारा का प्रतिनिधित्व करते थे। इसे श्रमण धारा कहा जा सकता है। यह श्रमण धारा बुद्ध के पहले से चली आ रही थी। महावीर इसी धारा के वाहक थे। यह श्रमण धारा कम से कम उतनी ही प्राचीन प्रतीत होती है जितनी वैदिक धारा थी। श्रमण धारा वास्तव में योग और तप की धारा थी जो संभवतः ईसा पूर्व की शताब्दियों में वेदबाह्य मानी जाती थी, इसीलिए पतंजलि ने ब्राह्मण-श्रमण का उल्लेख अहि-नकुल, गो-व्याघ्र जैसे शाश्वत विरोध वाले उदाहरणों में किया है। इससे संकेत मिलता है कि उस काल के ब्राह्मण श्रमणों को अपना प्रबल प्रतिस्पर्धी मानते थे। मोहनजोदड़ो में प्राप्त पुरातात्विक प्रमाणों से संकेत मिलता है कि श्रमण यदि योग तथा तप की प्राक्वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व करते रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

इस श्रमण धारा ने वैदिक धारा को बहुविध प्रभावित किया है। आज भारतीय संस्कृति का जो रूप मिलता है उसमें वैदिक और श्रमण धाराएं रस्सी की तरह एक में बँटी हुई हैं। इन दोनों धाराओं में प्राचीन काल में बहुत आदान-प्रदान हुआ है। वैदिक धारा मुख्यतः यज्ञ-प्रधान थी, किंतु उपनिषदों की विचारधारा यज्ञों को उतना महत्त्व नहीं देती, वह आत्म-प्रधान थी। यह रूपांतरण कैसे हुआ? यह असंभव नहीं कि उपनिषदों की विचारधारा के विकास में श्रमण धारा का प्रभाव रहा हो। वैदिक साहित्य में ही इस बात का उल्लेख मिलता है कि वैदिक ऋषियों ने आत्मविद्या नग्न श्रमणों (वातरशना मुनियों) से ग्रहण की। यह उल्लेखनीय है कि उपनिषदों की विचारधारा का

विकास मुख्यतया प्राच्य जनपदों में हुआ जो व्रात्यों का गढ़ थे। व्रात्य कौन थे, इस पर **अथर्ववेद** से अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। परंतु इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वे यज्ञ-विरोधी थे और उन्हें आर्य संघ से बाहर माना जाता था। इन्द्र को व्रात्यहंता कहा गया है। **अथर्ववेद** में व्रात्यों को सामूहिक रूप से आर्य संघ में सम्मिलित करने के मंत्र मिलते हैं। हो सकता है कि इन व्रात्यों में श्रमणोपासक भी रहे हों। **मनुस्मृति** में लिच्छवियों को व्रात्य कहा गया है। वास्तव में लिच्छवि श्रमणोपासक थे।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि श्रमण परंपरा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और संन्यास को प्रश्रय मिला (पं० कैलासचन्द्र लिखित **जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका** का प्राक्कथन)। इस सम्बंध में अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। यह उल्लेखनीय है कि आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति तप अर्थ वाली उसी श्रम् धातु से हुई है जिससे श्रमण शब्द बना। **ऋग्वेद** में संन्यास आश्रम का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका प्रथम उल्लेख **जाबालोपनिषद्** में मिलता है (डा० काणे : **धर्मशास्त्र का इतिहास**, प्रथम भाग)। इस चौथे आश्रम के लिए प्राचीन धर्मसूत्रों में यति, मुनि, परिव्राजक आदि जो भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे सभी श्रमण के पर्यायवाची हैं। वानप्रस्थ के लिए वैदिक काल में वैखानस शब्द अधिक प्रचलित था। **वसिष्ठ धर्मसूत्र** में वैखानस के कर्तव्यों का वर्णन करने वाले श्रामणक नामक अध्ययन का उल्लेख मिलता है। यह श्रामणक शीर्षक अर्थपूर्ण है। क्या यह संकेत नहीं करता कि वैखानसों की जीवनचर्या श्रमणों की अनुकृति थी ?

ईसा पूर्व छठी शताब्दी से हमें अपने देश का क्रमबद्ध इतिहास मिलने लगता है। इस काल में श्रमणों ने वैदिक धारा को किस रीति से प्रभावित किया, इसका अध्ययन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। यूनानी उल्लेखों से विदित होता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में भारतीय समाज में जिन दो वर्गों को सबसे पूज्य स्थान प्राप्त था वे ब्राह्मण और श्रमण थे। श्रमणों का यह प्राधान्य कम से कम ईसवी आठवीं-नवीं शताब्दी में शंकराचार्य के समय तक बना रहा। यह श्रमणों का ही प्रभाव था कि मौर्य काल तक यज्ञ-यागों का चलन प्रायः बंद हो गया। शुंग काल में जिस ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ वह प्राचीन यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म नहीं, वरन् उसका नया रूप था, जिसे पौराणिक धर्म कहा जा सकता है। इस नये पौराणिक धर्म में श्रमणों के अधिकांश जीवन-मूल्यों को सम्मिलित कर लिया गया था। पुराणों में बुद्ध की ही

नहीं, श्रमण धारा के प्रवर्तक अर्हत ऋषभ की गणना भी विष्णु के अवतारों में कर ली गयी है। षड्दर्शनों के विकास में, विशेष रूप से योग तथा वैशेषिक दर्शनों के विकास में श्रमणों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य को तो प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता था।

भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने के लिए इस श्रमण धारा का अनुशीलन आवश्यक है। इसके लिए जैनागमों तथा बौद्धागमों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। जैन तथा बौद्ध धर्म का सम्मिलित अध्ययन श्रमण धारा की दो शाखाओं के रूप में करना उचित होगा, दो पृथक् धर्मों के रूप में नहीं। हर्षवर्धन के काल तक जैन शब्द का व्यवहार बौद्धों के लिए भी किया जाता था। **हर्षचरित** में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। बुद्ध जिननाथ कहे जाते थे। इसी आधार पर उनके अनुयायी भी जैन कहलाते थे। संभवतः बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो जाने के बाद ही यह शब्द श्रमण भगवान महावीर के अनुयायियों के लिए रूढ हो गया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में श्रमण भगवान महावीर के अनगार शिष्य निग्रंथ श्रमण तथा श्रमण भगवान बुद्ध के अनगार शिष्य शाक्यपुत्रीय श्रमण कहलाते थे। दोनों के गृहस्थ अनुयायी श्रमणोपासक अथवा श्रावक कहलाते थे। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में निग्रन्थ श्रमणों के अनुयायियों को आर्हत (अर्हतों के उपासक) भी कहते थे।

बौद्धागमों, जैनागमों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज पर अधिक अच्छे ढंग से रोशनी डालना संभव हो सकेगा। पश्चिमी इतिहासकारों द्वारा प्रचारित यह मत सही नहीं है कि भगवान बुद्ध ने सर्वप्रथम भिक्षु संघ का गठन किया। निग्रन्थ तथा आजीवक श्रमण संघ बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन से पूर्व विद्यमान थे। भिक्षुणियों को श्रमण संघ में स्थान देने वाले भगवान बुद्ध पहले श्रमणाचार्य नहीं थे। उनके सामने निग्रन्थ संघ का दृष्टांत वर्तमान था। निग्रन्थ संघ में भिक्षुणी को निग्रन्थी अथवा श्रमणी कहा जाता था।

पाली ग्रन्थों से संकेत मिलता है कि निग्रन्थ तथा आजीवक श्रमणों की परम्परा बुद्ध के पूर्व से प्रचलित थी। बुद्ध ने अपने जिन, अर्हत होने की सूचना सबसे पहले उपक आजीवक को दी थी जिसने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया। बुद्ध संभवतः आजीवकों की अपेक्षा निग्रन्थों को अपना प्रबल प्रतिस्पर्धी मानते थे, शायद इसीलिए वह अपने संघ में उनके दुष्कर तपस्या मार्ग की

आलोचना प्रायः करते रहते थे। अन्यतीर्थिक श्रमणों से उनका आशय प्रायः निग्रन्थों से होता था।

निग्रंथ श्रमण एक प्राचीन परम्परा के वाहक थे। बौद्धागमों में उन्हें चातुर्याम संवर का अनुगामी बताया गया है। जैनागमों से विदित होता है कि चातुर्याम संवर का मार्ग अर्हत पार्श्व ने प्रतिपादित किया था, जिनका निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। इसी उल्लेख के आधार पर अब पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता स्वीकार कर ली गयी है। अर्हत पार्श्व के चातुर्याम में यम शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है। पतंजलि के **योग सूत्रों** में भी योग के आठ अंगों में यम (पंच महाव्रत) पहला अंग माना गया है। **योगप्रदीप** में कैवल्य की लगभग वही परिभाषा मिलती है जो निग्रन्थों में प्रचलित थी।

जैनागमों में प्राचीन भारतीय इतिहास की बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन में इसका समुचित उपयोग किया जाना चाहिए। बौद्धों ने भगवान बुद्ध की निर्वाण तिथि भुला दी। इस कारण उनकी निर्वाण तिथि विवादास्पद है। चीनी यात्री ह्चुएनत्सांग जब ईसवी ६३० में भारत आया था तभी भगवान बुद्ध की निर्वाण तिथि के बारे में भारी मतभेद था। कोई उनकी निर्वाण तिथि वैशाख पूर्णिमा मानता था और कोई कार्तिक पूर्णिमा। कोई कहता था कि उनके निर्वाण को १२०० वर्ष हो गये और कोई १५०० वर्ष और कोई ९०० वर्ष बताता था। किन्तु जैनागमों में श्रमण भगवान महावीर की निर्वाण तिथि ही नहीं, उनके बाद के राजवंशों के शासन काल की स्मृति भी सुरक्षित है। महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत् तथा ६७० वर्ष पाँच महीने बाद शक संवत् प्रचलित हुआ। प्राचीन भारतीय इतिहास की तिथियों के निर्धारण में प्राचीन जैनागम अधिक सहायक हो सकते हैं।

भगवान बुद्ध की अनेक अच्छी जीवनियाँ सुलभ हैं, किन्तु भगवान महावीर की ऐसी जीवनियाँ कम लिखी गयी हैं जिनमें सिर्फ उन्हें ऐतिहासिक महापुरुष मानकर धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करने का प्रयास किया गया हो। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में एक विनम्र प्रयास है। इसमें मैं कितना सफल हुआ हूँ, इसका मूल्यांकन सुधी विद्वान् ही कर सकते हैं। मैं अपने अध्ययन की अपूर्णता से अवगत हूँ।

बौद्धागमों में श्रमण भगवान महावीर का उल्लेख निगंठ नातपुत्त अथवा

नाटपुत्त के रूप में मिलता है। ज्ञातृकुल में जन्म लेने के कारण वह अपने समकालीनों में ज्ञातृपुत्त अथवा ज्ञातृपुत्र के नाम से विदित थे तथा निग्रन्थ प्रवचन का शास्ता होने के कारण उन्हें निगंठ (निग्रन्थ) ज्ञातपुत्त कहा जाता था। अपने तपस्वी जीवन काल में उन्होंने जिस पराक्रम का परिचय दिया उसके कारण उन्हें महावीर कहा जाने लगा। मैंने अपनी पुस्तक के लिए उनके युग में उनके समकालीनों द्वारा व्यवहृत उनका नाम निगंठ ज्ञातपुत्त ही चुना है। उस काल में कुल तथा गोत्र नाम से सम्बोधन की प्रथा थी। श्रमण भगवान बुद्ध भी अपने समकालीनों में कुलनाम के आधार पर शाक्यपुत्र तथा गोत्रनाम के आधार पर श्रमण गौतम पुकारे जाते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवन के सम्बन्ध में प्राचीनतम सूचनाएँ श्वेताम्बर परंपरा में मान्य आगम ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। निग्रन्थ श्रमण गुणोपासक थे, व्यक्ति-उपासक नहीं, इसलिए उन्होंने निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवन-प्रसंगों की अपेक्षा उनकी शिक्षाओं को ही स्मृतिवद्ध रखने पर अधिक ध्यान दिया। निगंठ ज्ञातपुत्त के साढ़े वारह वर्षीय तपस्वी जीवन काल का सवसे प्रामाणिक विवरण **आचारांग** के प्रथम श्रुतस्कंध में मिलता है जिसका रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के आस-पास माना जाता है। उसके द्वितीय श्रुतस्कंध में, जो कुछ परवर्ती काल का है, उनके माता-पिता, कुल आदि तथा केवल-ज्ञान प्राप्ति तक की मुख्य जीवन घटनाओं का वर्णन मिलता है। उनकी पहली पूर्ण जीवनी **कल्पसूत्र** में मिलती है जो अंतिम श्रुतकेवली भद्रवाहु की रचना मानी जाती है। इस जीवनी तथा **आचारांग** के द्वितीय श्रुतस्कंध की जीवनी में अत्यधिक समानता है, अतएव दोनों का रचनाकाल एक माना जा सकता है। विद्वानों ने दोनों का रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी तथा तीसरी शताब्दी के मध्य माना है।

भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांग, उपासकदशांग, औपपातिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, निरयावलियाओ तथा **आवश्यकसूत्र** पर लिखे गये टीका ग्रन्थों—**आवश्यकचूर्णि, आवश्यकनिर्युक्ति** तथा **विशेषावश्यक भाष्य** में भी निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों का जो रूप वर्तमान में उपलब्ध है वह उतना प्राचीन नहीं माना जाता जितना प्राचीन **आचारांग** का प्रथम श्रुतस्कंध है, तथापि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनमें निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के वाद ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसवी पाँचवी-छठी शताब्दी में इनके संकलन काल तक की अनेक प्राचीन जनश्रुतियाँ सुरक्षित हैं।

दिगम्बर परम्परा के **उत्तर पुराण** आदि में निगंठ ज्ञातपुत्त की पौराणिक शैली की जो जीवनियाँ उपलब्ध हैं, वे रचनाकाल की दृष्टि से आगम ग्रन्थों के संकलन काल (ईसवी ४५३ अथवा ४६६) के बाद की हैं। केवल दो ग्रन्थों— षटखंडागम (ईसवी प्रथम शताब्दी) तथा तिलोयपण्णत्ति (ईसवी दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी) में मिलने वाले कतिपय उल्लेख ही अपेक्षाकृत प्राचीन माने जा सकते हैं। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्परा में मिलने वाली निगंठ ज्ञातपुत्त की जीवनियों में सबसे मुख्य मतभेद इस बात पर है कि प्रव्रज्या ग्रहण करने के समय वह विवाहित थे अथवा अविवाहित ? उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में कुमार अवस्था में गृहत्याग किया, यह मौखिक परम्परा दोनों में मान्य है। मत-भेद कुमार शब्द के अर्थ पर है। उसका अर्थ कुँवारा किया जाय या युवराज ? दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में जब कि उन्हें अविवाहित वर्णित किया गया है, श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उन्हें केवल विवाहित ही नहीं दिखाया गया है, उनके एक पुत्री होने का भी उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा की जीवनियों में प्रव्रज्या के समय उनके माता-पिता को जीवित दिखाया गया है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा की जीवनियों में वर्णित है कि २८ वर्ष की अवस्था में उनके माता-पिता का देहावसान हो गया और भाई के अनुरोध पर उन्होंने दो वर्ष और गृहवास करना स्वीकार कर लिया। दिगम्बर परम्परा की जीवनियों में जब कि उनकी माता त्रिशला को वैशाली के गणराजा चेटक की पुत्री वर्णित किया गया है, श्वेताम्बर परम्परा में उनका उल्लेख उनकी बहिन के रूप में किया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा की सभी जीवनियों में गर्भापहरण की कथा मिलती है, जिसके अनुसार निगंठ ज्ञातपुत्त पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए, किन्तु इन्द्र के आदेश से हरिनैगमेषी नामक देवता ने उन्हें ८३ दिन बाद क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में स्थापित कर दिया। नैगमेष अथवा नेजमेष नामक एक पुत्रहंता देवता का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी मिलता है जिसका सिर भेड़ का था। श्वेताम्बर ग्रन्थों में वर्णित देवता वही प्रतीत होता है। दिगम्बर परम्परा में इस दंतकथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से कुषाण काल के कुछ शिलापट्ट मिले हैं, जिनमें से एक पट्ट पर गर्भापहरण का दृश्य अंकित है। इससे प्रकट होता है कि गर्भापहरण की जनश्रुति ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में प्रचलित हो चुकी थी और श्वेताम्बर ग्रन्थों में सुरक्षित निगंठ ज्ञातपुत्त से सम्बन्धित जन-

श्रुतियाँ काफी प्राचीन हैं। अकोटा में ईसवी ५५० के आसपास की निगंठ ज्ञातपुत्त की एक प्रतिमा मिली है जो उस काल की है जब वह प्रव्रज्या लेने का निश्चय कर चुके थे, किन्तु बड़े भाई के अनुरोध पर उन्होंने दो साल और गृहवास करना स्वीकार कर लिया था। श्वेताम्बर परम्परा में जनश्रुति मिलती है कि इस प्रकार की उनकी सबसे पहली प्रतिमा उनके जीवन-काल में ही गोशीर्ष चंदन से निर्मित की गयी थी। इसे जीवन्त स्वामी-प्रतिमा कहते थे। अकोटा में उपलब्ध जीवंत स्वामी-प्रतिमा से पुनः यही बात रेखांकित होती है कि श्वेताम्बर परम्परा में निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवनकाल से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ काफी प्राचीन हैं और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मैंने निगंठ ज्ञातपुत्त का जीवनवृत्त प्रस्तुत करने में **कल्पसूत्र** तथा **आचारांग** प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कंध को अपना आधार-ग्रन्थ बनाया है, क्योंकि उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में सबसे प्राचीनतम सामग्री इन्हीं ग्रन्थों में उपलब्ध है। अन्य आगम ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं तथा **षटखंडागम** एवं **तिलोयपण्णत्ति** में मिलनेवाली सामग्री का भी मैंने यथास्थान उपयोग किया है।

विशेषावश्यक भाष्य में, जो ईसवी छठी शताब्दी की रचना मानी जाती है, वर्णित है कि निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने तीर्थ अथवा चतुर्विध संघ की स्थापना केवल ज्ञान-प्राप्ति के दूसरे दिन मध्यम पावा के महासेन उद्यान में की, जहाँ उन्होंने इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह वेदविद ब्राह्मणों को वाद में पराजित कर अपना शिष्य बना लिया। इसके विपरीत **षटखंडागम** तथा **तिलोयपण्णत्ति** में, जो रचनाकाल की दृष्टि से विशेषावश्यक भाष्य से पहले के हैं, वर्णित है कि निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपना तीर्थ-प्रवर्तन केवल ज्ञान-प्राप्ति के ६६वें दिन राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर राजा श्रेणिक की उपस्थिति में किया। मैंने अपनी पुस्तक में दोनों प्राचीन जनश्रुतियों को समन्वित करने का प्रयास किया है और दिखाया है कि उन्होंने मध्यम पावा के महासेन उद्यान में इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह दिग्गज आचार्यों को वाद में पराजित कर अपना शिष्य बना लिया और इसके बाद राजगृह पहुँचे जहाँ उनका प्रथम प्रवचन हुआ।

इस पुस्तक को लिखने में मैंने जिन पुस्तकों से सहायता ली है, उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। निगंठ ज्ञातपुत्तकालीन भारतीय समाज का चित्र उपस्थित करने में मैंने डा० जगदीशचंद्र जैन के शोधपूर्ण ग्रन्थ **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज** तथा डा० मोतीचन्द्र के विद्वत्तापूर्ण

ग्रन्थ **सार्थवाह** से भरपूर सहायता ली है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास** (भाग १, २ तथा ३) तथा डा० विमलचरण लाहा, डा० बूलचन्द्र, मुनि नथमल, जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि, मुनि रत्नप्रभ विजय, पं० कैलाशचन्द्र तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन के हिन्दी-अंग्रेजी के ग्रन्थ मेरे अध्ययन में विशेष सहायक हुए हैं। एतदर्थ मैं इन सभी विद्वानों का ऋणी हूँ।

बाल्यमित्र तथा सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्री अमृतलाल नागर ने यदि बार-बार उत्प्रेरित न किया होता तो शायद यह पुस्तक अधूरी लिखी पड़ी रह जाती। बंधुवर अजितप्रसाद जैन, प्रोप्राइटर, राजकुमार श्रवणकुमार आयल एण्ड राइस मिल्स, तालकटोरा, लखनऊ तथा गुलाबचन्द जैन ने यदि श्री जैन ग्रन्थ संग्रहालय का शुभारम्भ न किया होता तो शायद मुझे इस विषय पर पुस्तक लिखने की प्रेरणा न मिल पाती।

ज्ञानचन्द जैन

१

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में आज जहाँ पटना नगर स्थित है वहाँ एक गाँव था जो पाटलिग्राम कहलाता था। यह उस काल के शक्तिशाली मगध राज्य का सीमांत ग्राम था। यहाँ से गंगा के उत्तर वैशाली के लिच्छवियों तथा मिथिला के विदेहों के गणराज्य की सीमा आरंभ हो जाती थी जो वज्जीसंघ के नाम से विख्यात था। इसकी सीमा उत्तर में हिमालय, पूर्व में कोशी तथा पश्चिम में गंडकी नदी थी। इसके अंतर्गत आधुनिक उत्तरी बिहार के चंपारन, मुजफ्फरनगर तथा दरभंगा जिलों का भूभाग आता था। इसका विस्तार पूर्व से पश्चिम २४ योजन तथा उत्तर से दक्षिण १६ योजन था। **शतपथ ब्राह्मण** के अनुसार विदेघ माथव ने सरस्वती तट से यज्ञाग्नि लाकर इस भूभाग को बसाया था, फलतः यह उनके नाम पर विदेह जनपद के नाम से विख्यात हुआ। इस जनपद के निवासी भी विदेह कहलाते थे।

भारतीय इतिहास में वैदिक युग के बाद ईसा से एक सहस्र वर्ष पूर्व से लेकर पाँचवीं-छठी शताब्दी पूर्व तक का काल जनपदों के विकास का काल माना जाता है।[1] वैदिक काल में एक ही पूर्वज-वंश-परंपरा में उत्पन्न कुलों का समूह जन अथवा गण कहलाता था। वे घुमंतू जीवन व्यतीत करते थे। कालांतर में जिस स्थान से जो जन बद्धमूल हो गया वह उसी के नाम पर जनपद के रूप में विख्यात हो गया। ये जनपद प्राचीन यूनान के पुर-राज्यों से काफी मिलते-जुलते थे। इन जनपदों में राजनीतिक सत्ता प्रायः उसी जन के हाथ में केंद्रित रही जिसने मूलरूप से उसे बसाया था। जनपदों का जब विस्तार हुआ और उनमें अन्य कुलों का भी वास होने लगा तो वे महाजनपद कहलाने लगे। एक जनपद के सभी निवासियों की भक्ति अपने जनपद के प्रति होती थी। उनमें पारस्परिक भ्रातृभाव का संबंध होता था और उनके आचार-विचार भी समान होते थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में उत्तरी भारत १६ महाजनपदों में विभक्त था। इनमें कुछ राजाधीन थे और कुछ गणाधीन। राजाधीन जनपदों में जबकि शासन-सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में केंद्रित थी, गणाधीन जनपदों में गणतंत्रात्मक

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४१८।

शासन पद्धति प्रचलित थी। इन गणतंत्रात्मक राज्यों में वज्जीसंघ सबसे अधिक शक्तिशाली था।

उस काल में पूर्वी भारत में कम से कम दस गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। वज्जीसंघ के पश्चिम में आधुनिक गोरखपुर तथा देवरिया जिलों में मल्ल गणराज्य विस्तृत था। संभवतः सारन जिले का अधिकांश भूभाग भी इसी में सम्मिलित था। लिच्छवियों की भाँति मल्लों के भी नौ गण थे जिनमें पावा और कुशीनारा के मल्लों का उल्लेख पाली ग्रंथों में मिलता है। लिच्छवियों की भांति मल्लों का भी निकास काशी-कोशल से था और वे भी इक्ष्वाकुवंशी कहलाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में आत्मरक्षा के लिए मल्लों ने भी अपने को लिच्छवियों के गणराज्य से संबद्ध कर रखा था और आक्रमण होने पर दोनों गणराज्यों की सेनाएँ संयुक्त हो जाती थीं। मल्लों के उत्तर में बस्ती जनपद में शाक्यों का गणराज्य था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु के अवशेष अब पिपरहवा में प्राप्त हो गये हैं। शाक्य भी अपने को इक्ष्वाकुवंशी कहते थे।

वज्जीसंघ की स्थिति उस काल में मगध, कोशल, वत्स तथा अवंती के चार शक्तिशाली नृपतंत्रात्मक राज्यों के मध्य दाँतों के बीच जीभ के समान थी। वज्जीसंघ के दक्षिण में मगध राज्य था जिसके अंतर्गत आधुनिक पटना तथा गया जिलों का भूभाग आता था। इसकी राजधानी राजगृह गंगा के दक्षिण में पाटलिग्राम से ८ योजन पर थी और पाँच पर्वतों से घिरी होने के कारण प्राकृतिक दुर्ग के समान थी। मगध के पूर्व में मुंगेर तथा भागलपुर जिलों का भूभाग अंग कहलाता था। चंपा नदी दोनों के बीच की सीमा थी। अंग की राजधानी में चंपक वृक्षों की अधिकता के कारण वह चंपा के नाम से विख्यात हो गयी थी। वह भी गंगा के दक्षिण में चंपा और गंगा नदियों के संगम के निकट स्थित थी।

अंग और मगध का उल्लेख अन्य प्राच्य देशों के साथ महाभारत में हुआ है। वैदिक काल में मगध को कीकट के नाम से जाना जाता था और उसे अनार्य देश माना जाता था। महाभारत काल में मगध प्राच्य देश का सबसे शक्तिशाली राज्य माना जाता था और उसका प्रभुत्व संभवतः मथुरा तक फैला था। उस काल में उसकी राजधानी गिरिव्रज के नाम से विख्यात थी। मगध के राजवंश का संस्थापक बृहद्रथ नागवंशी प्रतीत होता है, क्योंकि उसका पिता वसु (नाग) वर्णित किया गया है, जिसके नाम के आधार पर राजधानी वसुमती कहलाती थी। महाभारत में मगध की राजधानी नागपूजा के प्रसिद्ध केंद्र के रूप में वर्णित की गयी है।

अंग जनपद का उल्लेख भी वैदिक साहित्य में मिलता है। यह जनपद अपने हाथियों के लिए विख्यात था। महाभारत के अनुसार दुर्योधन ने अंग का राज्य सूत-पुत्र कर्ण को प्रदान कर दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अंग अपनी स्वतंत्रता खोकर मगध का अधीनस्थ राज्य बन गया। संभवतः अंग देश के हाथियों ने मगध की राज्य-शक्ति का विस्तार करने में भारी सहायता पहुँचायी होगी।

वज्जीसंघ के पश्चिम में काशी और कोशल जनपद थे। काशी जनपद पूर्वी उत्तर प्रदेश में तथा कोशल जनपद उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में विस्तृत था। कोशल की सीमा उत्तर में नेपाल की तराई, दक्षिण में सर्पिका (सई) नदी, पूर्व में सदानीरा तथा पश्चिम में पांचाल थी। इसकी राजधानी में पहुँचकर वणिक लोग जब पूछते थे कि यहाँ क्या-क्या माल मिलता है तो उन्हें उत्तर मिलता था—सब्बं अत्थि (सब कुछ यहाँ है)।[1] इसलिए उसका नाम सावत्थी (श्रावस्ती) पड़ गया था। साकेत कोशल की दूसरी प्रधान नगरी थी।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मगध ने जिस प्रकार अंग को आत्मसात् करके अपनी शक्ति-वृद्धि कर ली थी, उसी प्रकार कोशल ने भी काशी जनपद को आत्मसात् करके अपनी सीमाएँ विस्तृत कर ली थीं। काशी जनपद उस काल में विद्या का ही नहीं, व्यापार का भी प्रसिद्ध केंद्र था। उसकी राजधानी वरुणा और असी नदियों से समावृत होने के कारण वाराणसी कहलाती थी।

कोशल के दक्षिण में वत्स जनपद था जिसकी राजधानी कौशांबी की स्थापना कुश के पुत्र कुशांब ने यमुना-तट पर की थी। गंगा की बाढ़ में हस्तिनापुर के बह जाने पर अर्जुन के पौत्र परीक्षित के वंशज राजा निचक्षु कौशांबी चले आये थे।

वत्स के दक्षिण में मालव के क्षेत्र में अवंती का शक्तिशाली राज्य था, जिसकी राजधानी उज्जयिनी व्यापारिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में वाराणसी की प्रतिस्पर्धा करती थी। अवंती की सीमा पूर्व में मगध के राज्य को छूती थी। महिष्मती और विदिशा अवंती की अन्य प्रधान नगरियाँ थीं।

उस काल का सबसे सुदूर दक्षिणवर्ती जनपद गोदावरी के तट पर स्थित अश्मक था, जिसकी राजधानी पोतन (प्रतिष्ठान) थी।

वत्स के पश्चिम में उत्तर प्रदेश के रुहेलखंड संविभाग में पांचाल जनपद था जिसे गंगा ने दो भागों में विभक्त कर दिया था। इसके उत्तरी भाग की

---

१. मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा—पपंचसूदनी।

राजधानी अहिच्छत्रा तथा दक्षिणी भाग की राजधानी कांपिल्य थी। उसके पश्चिम में शूरसेन जनपद था जिसकी राजधानी मथुरा के निवासियों की जीविका का मुख्य साधन कृषि के बजाय वाणिज्य बन गया था।[1]

गंगा-यमुना के दोआबे के उत्तरी भाग में कुरु जनपद तथा उसके दक्षिण जयपुर व अलवर के भूभाग में मत्स्य जनपद और बुंदेलखंड में चेदि जनपद था।

सुदूर पश्चिमोत्तर में पश्चिमी पंजाब तथा पूर्वी अफगानिस्तान का भूभाग गांधार जनपद तथा जम्मू-कश्मीर, उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रदेश तथा उत्तरी अफगानिस्तान का भूभाग कंबोज जनपद कहलाता था।

इन सभी जनपदों के साथ वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली का घनिष्ठ संपर्क था। ये सभी जनपद उस काल के प्रमुख वणिकपथों से जुड़े हुए थे। उत्तरी भारत का प्रमुख वणिकपथ उत्तरापथ तथा दक्षिणी भारत का प्रमुख वणिकपथ दक्षिणापथ के नाम से विख्यात था। एक और महापथ पूर्व से पश्चिम को जाता था, अतः पुब्बांत-अपरांत कहलाता था। उत्तरापथ सिंधु नदी के इस पार और उस पार फैले गांधार जनपद की राजधानी तक्षशिला से प्रारंभ होता था और कुरुक्षेत्र में पहुँचकर दो शाखाओं में विभक्त हो जाता था। एक महापथ हिमालय के पादमूल से अधिक दूर न जाकर हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा तथा श्रावस्ती होते हुए वैशाली पहुँचता था और वहाँ से राजगृह तथा चंपा को चला जाता था। दूसरा महापथ कुरु जनपद की राजधानी इंद्रप्रस्थ के निकट यमुना पार करके मथुरा, कांपिल्य, कान्यकुब्ज, प्रयाग होते हुए वाराणसी पहुँचता था और वहाँ से सोन नदी के तट पर बसे वृज्जियों के उक्कचेल नामक नगर से होकर वैशाली में पहले महापथ से मिल जाता था।[2]

दक्षिणापथ गोदावरी के तट पर स्थित अश्मक जनपद की राजधानी प्रतिष्ठान से प्रारंभ होता था और महिष्मती, उज्जयिनी तथा विदिशा होते हुए कौशांबी में उत्तरापथ से मिल जाता था और वहाँ से साकेत होते हुए श्रावस्ती पहुँचता था।

पुब्बंत-अपरांत महापथ सिंधु नदी के निचले काँठे में विस्तृत सौवीर देश से प्रारंभ होता था और राजस्थान की मरुभूमि को पार कर कौशांबी में उत्तरापथ से मिल जाता था।

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४८४।

२. सार्थवाह, पृ० १८-१९।

उस काल में पूर्वी समुद्रतट पर ताम्रलिप्ति तथा पश्चिमी समुद्रतट पर भृगुकच्छ, प्रभास तथा शूर्पारक प्रमुख जलपट्टन (बंदरगाह) थे। अंग की राजधानी चंपा उन दिनों पोत-वणिकों का केंद्र थी।[1] चंपा से वणिकों के दल जलपोतों पर सवार होकर ताम्रलिप्ति पहुँचते थे और वहाँ से स्वर्णभूमि (बर्मा तथा हिंदचीन प्रायद्वीप), स्वर्णद्वीप (पूर्वी द्वीप-समूह अथवा इंडोनेशिया) तथा सिंहलद्वीप (श्रीलंका) जाते थे। इन द्वीपों से वे स्वर्ण, मसाले तथा बहुमूल्य खनिज पदार्थों का आयात करते थे। ताम्रलिप्ति से समुद्रमार्ग से सिंहलद्वीप की यात्रा में १४ दिन लगते थे। नाविक लोग सिंहलद्वीप से समुद्र-तट के किनारे-किनारे यात्रा करते हुए भृगुकच्छ पहुँच जाते थे। भृगुकच्छ के पोताश्रय में उस काल में पश्चिम के विविध देशों के जलपोत पहुँचते थे। यहाँ पर उत्तरी भारत के व्यापारियों का जमघट लगा रहता था। यहाँ से प्रतिष्ठान की यात्रा में बीस दिन लगते थे।

उन दिनों यात्रा करना बड़े जीवट का काम था। मार्ग कच्चे तथा ऊबड़-खाबड़ थे। वे अटवियों, पर्वतों और रेगिस्तानों से होकर गुजरते थे। उन पर जंगली हिंस्र पशुओं और चोर-डाकुओं का भय बराबर बना रहता था। जब कोई राजा विजयाभिलाषा से अपनी सेना के साथ प्रयाण करता था तो सड़क को ठीक करनेवाले मजदूरों और कारीगरों को भी साथ ले चलता था। वे जमीन को समथर बनाते, रास्ता रोकनेवाले पेड़ काट देते, पुरानी सड़कों की मरम्मत करते तथा नयी सड़कें बनाते थे।

सड़कों पर यात्रियों के विश्राम के लिए सभागृह बने थे जहाँ बैठने की चौकियों और पानी के घड़ों की व्यवस्था रहती थी। छाया के लिए सड़कों के किनारे पेड़ लगाये जाते थे और कुएँ तथा तालाब खुदवा दिये जाते थे।

उस काल में नदियों को पार करने के लिए पुल न थे। लोग प्रायः वर्षा ऋतु में यात्रा नहीं करते थे। ग्रीष्म तथा शरद ऋतु में यात्री प्रायः नदियों को छिछले पानी में पार करते थे। गहरे पानी में पार उतरने के लिए नावें चलती थीं। राजा लोग बहुधा नावों का बेड़ा साथ में रखते थे।

उस काल में तक्षशिला से श्रावस्ती, श्रावस्ती से वैशाली और वैशाली से राजगृह तथा चंपा के मार्ग पर सामान या सहपूँजी लेकर वाणिज्य-व्यापार करनेवाले ५००-५०० वणिकों के सार्थ (समूह) बराबर चला करते थे। मुद्रा अर्थव्यवस्था के प्रसार के कारण उस काल में कुटीर उद्योगों तथा शिल्पों के

१. प्राचीन भारत के नगर तथा नगर-जीवन।

विकास को विशेष प्रोत्साहन मिल रहा था। फलतः अंतरजनपदीय तथा अंतर-देशीय व्यापार खूब फल-फूल रहा था। व्यापारी वस्तुओं को उत्पादन-केंद्रों पर एकत्र करते और धनलाभ के निमित्त उन्हें सुदूर देशों में ले जाकर बेचते थे। व्यापारियों के सार्थ एक नायक के नेतृत्व में यात्रा करते थे जो सार्थवाह कहलाता था। उस काल के समाज में सार्थवाह को अत्यंत सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह पुरुषार्थ और उद्यम का जीवंत प्रतीक था। सार्थवाह की पत्नी सार्थवाही कहलाती थी। सार्थवाह को मार्ग और मार्ग के खतरों की पूरी जानकारी होती थी। उसके नेतृत्व में हाथी, घोड़े, बैल, गधे, ऊँट, खच्चर, रथ, शकट, पालकी तथा पैदल पथिकों का चलता हुआ सार्थ जन-समुद्र जैसा प्रतीत होता था।

सार्थ प्रायः उन स्थानों पर ठहरते थे जहाँ गोकुल होते थे अथवा सन्निवेशों में ठहरते थे। उस काल में जो गाँव गोकुलों तथा धन-धान्य से इतने परिपूर्ण होते थे कि व्यापारियों के सार्थ अथवा राजा की सेना गमन करते समय वहाँ पड़ाव डाल सकती थी और उसे वहाँ अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ मिल जाती थीं, उन्हें सन्निवेश कहते थे।

जिस वस्ती के चारों ओर ढाई कोस तक दूसरी बस्ती न हो उसे मडंब कहते थे। मडंब की स्थिति बहुत कुछ आधुनिक थानों की भाँति होती थी। वहाँ रक्षक सैनिक रहते थे। मडंब का अधिकारी माडंबिक कहलाता था और राजा के पार्षदों में उसकी भी गणना होती थी। ताँबे, लोहे आदि की खानों के निकट स्थित बस्तियों को अकर कहते थे।

उस काल में नगर वाणिज्य-व्यापार के साथ राजनीतिक तथा सांस्कृतिक हलचलों के मुख्य केंद्र थे। जिस नगर में राजा का वास होता था उसे राजधानी कहते थे। समुद्रतट पर स्थित नगर को, जहाँ विदेशी माल उतरता था और देशी माल का चालान होता था, जलपट्टन कहते थे। द्रोणमुख जल और थल के संगम पर स्थित उन नगरों को कहते थे जहाँ जल और थल दोनों से माल उतरता था। निगम उस नगर या वस्ती को कहते थे जहाँ लेन-देन और व्याज-बट्टे का काम करनेवाले व्यापारी महाजन रहते थे। जिस नगर में चारों ओर से उतरते माल की गाँठ खोली जाती थी उसे पुटभेदन कहते थे।[1]

उस काल में वैशाली नगरी सार्थों का एक मुख्य पड़ाव-स्थान थी। पाँच प्रकार के सार्थों का उल्लेख मिलता है : (१) गाड़ियों और छकड़ों द्वारा माल

---

१. सार्थवाह, पृ० १६३।

ढोनेवाले, (२) ऊँट, खच्चर और बैलों द्वारा माल ढोनेवाले, (३) अपना माल सिर या बहँगी पर स्वयं ढोनेवाले, (४) अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करनेवाले तथा (५) कार्पटिक साधुओं के सार्थ।[१] कुछ सार्थ सूर्योदय होते ही गमन कर देते थे, कुछ प्रथम प्रहर की धूप होते ही ठहर जाते थे और कुछ मध्याह्न सूर्य होने पर भोजन के लिए ठहर जाते थे। सार्थ के लोग वर्षा, बाढ़ आदि प्राकृतिक विपदाओं का सामना करने के लिए दाँत किटकिटानेवाले लड्डू, गेहूँ, तिल, बीज, गुड़, घी आदि साथ रखते थे।

मार्ग की कठिनाइयों से बचने के लिए प्रायः छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर चलते थे। कभी-कभी दो सार्थवाह मिलकर किसी भयंकर अटवी या दुर्गम नदी को पार करते थे। सार्थ के लोग प्रायः अगर, चोया, कस्तूरी, ईंगुर, शंख, नमक तथा रत्न लेकर चलते थे। सार्थ में केवल वणिक ही नहीं होते थे। उन दिनों अकेले यात्रा करना खतरे से खाली नहीं था, अतएव विद्या और आचरण से संपन्न नाना तीर्थों (पंथों) के अचेल, अवमचेल (फलकधारी) और सचेल मुंडित श्रमण, गेरुआ वस्त्रधारी एकदंडी अथवा त्रिदंडी परिव्राजक, वेद-पारंगत शिखाधारी ब्राह्मण, विद्याध्ययन के लिए निकले दंडधारी ब्रह्मचारी विद्यार्थी तथा विद्याध्ययन समाप्त कर देशाटन के द्वारा ज्ञानार्जन करने की अभिलाषा से निकले चरक भी सार्थों के साथ हो लेते थे। घोड़े के व्यापारी तथा नाना प्रकार के खेल-तमाशे दिखानेवाले नट, नर्तक, वादक भी बहुधा देशाटन द्वारा जीविकोपार्जन के लिए सार्थ में संमिलित हो जाते थे।

सार्थ को एक जनपद से दूसरे जनपद में प्रवेश के लिए मुद्रा (राजाज्ञा) दिखानी पड़ती थी। सुदूर पश्चिमोत्तर में तक्षशिला उन दिनों थल-मार्ग से देश-देशांतर से व्यापार करनेवाले वणिकों का मिलन-केंद्र था।[२] तक्षशिला से आगे उत्तरापथ का जो भाग दुर्गम पर्वतीय प्रदेश से होकर बाल्हीक (बलख) पहुँचता था वह हैमवतपथ कहलाता था। बाल्हीक में उस काल की सभ्य दुनिया के सभी महापथ आकर मिल जाते थे। वहाँ से पूर्व की ओर एक मार्ग पामीर की घाटियाँ पार कर काशगर होते हुए चीन चला गया था और दूसरा मार्ग पश्चिम में ईरान, ईराक तथा शाम होकर कास्पियन सागर, कृष्ण सागर तथा भूमध्य सागर के तट तक पहुँचता था।

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १८० ।
२. सार्थवाह, पृ० ११२ ।

उस काल के सार्थवाहों को संभवत: मानसूनी हवाओं का पता था, तभी थल-मार्गों से ही नहीं, जल-मार्गों से भी यात्रा करने के उल्लेख मिलते हैं। लाल सागर से भारत के पश्चिमी समुद्रतट के पोताश्रयों तक पहुँचने में चालीस दिन लगते थे। भारत तथा बेबीलोन के बीच व्यापारिक संबंध का उल्लेख मिलता है।[1] भारतीय वणिकों के दक्षिण-पूर्वी अरब, अदन, लाल सागर, उत्तर-पूर्वी अफ्रीका तथा भूमध्य सागर के ज्वालामुखी पर्वतों से युक्त भाग वलयामुख तक की यात्रा करने के उल्लेख मिलते हैं।

थल-मार्ग से चीन से आनेवाला रेशम चीनांशुक कहलाता था, जिसका प्रयोग राजकुलों तथा उच्चकुलों में होता था। चीन से चीनांशुक के अतिरिक्त पश्मीनों, रत्न, गंध आदि का भी व्यापार होता था। वाल्हीक के घोड़े और ऊँट प्रसिद्ध थे। वहाँ के खच्चरों की भी नस्लें बहुत अच्छी मानी जाती थीं। बाल्हीक के घोड़ों के व्यापारी सार्थों के साथ उस काल की सभी प्रमुख राजधानियों में घोड़ों की बिक्री के लिए पहुँचते थे। कंबोज देश के आकीर्ण और कंथक घोड़े भी प्रसिद्ध थे। दोनों दौड़ने में तेज थे और ऊँची नस्ल के होते थे। सोना और हाथीदाँत उत्तरापथ के नगरों से दक्षिणापथ के नगरों में बिकने जाता था। वाराणसी, मथुरा और विदिशा वस्त्र-उत्पादन के मुख्य केंद्र थे। वाराणसी की कत्तिनें महीन सूत कातने में दक्ष थीं। वहाँ के बने बहुमूल्य, रंगीन, सुवासित, पतले एवं चिकने रेशमी, सूती तथा ऊनी कपड़ों की सभी जगह माँग थी। वहाँ कसीदे का काम भी बहुत सुंदर होता था। कलिंग, अंग और कारूष देशोत्पन्न हाथी सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। गांधार के पांडुकंबल रथ मढ़ने के काम आते थे। हिमवंत (हिमालय) पर्वत के वणिक मार्गों से गोशीर्ष चंदन आता था जिसका उपयोग सभी राजकुलों तथा उच्चकुलों में होता था। दशार्ण देश (विदिशा) में तेज धारवाली तलवारें बनती थीं। उज्जयिनी और वाराणसी के वणिकों में व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता रहती थी। उज्जयिनी से वणिक लोग पारस देश (ईरान) की यात्रा करते थे। पारस देश से शंख, चंदन, अगुरु, मँजीठ, चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि बहुमूल्य वस्तुएँ आयात होती थीं।[2]

उस काल का प्रचलित सिक्का कार्षापण कहलाता था जो चाँदी अथवा ताँबे का होता था। उससे छोटा सिक्का काकिणी कहलाता था जो वजन में

१. हिस्ट्री ऐंड कल्चर आव दि इंडियन पीपुल (भाग दो) का 'भारत तथा पश्चिमी दुनिया' नामक अध्याय।

२. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज के तृतीय खंड का तीसरा अध्याय।

कार्षापण का चौथाई भाग होता था। काकिणी से छोटा सिक्का माषक तथा अर्धमाषक कहलाता था। एक कार्षापण में १६ माषक मिल जाते थे। सोने का ४०० रत्ती भार का सिक्का निष्क कहलाता था। सोने का ८० रत्ती भार का सिक्का सुवर्ण कहलाता था।[१] सोने का एक मासे वजन का सुवर्णमाषक भी चलता था। लेन-देन में कौड़ियों का भी व्यवहार होता था।

उस काल के नागरिकों को एक कार्षापण में एक समय के आहार के लिए भोजन-सामग्री प्राप्त हो जाती थी। भृत्यों तथा कर्मकरों को न्यूनतम मजदूरी एक कार्षापण प्रतिदिन मिलती थी। बैलों की जोड़ी २४ कार्षापण में मिल जाती थी। घोड़ों की कीमत १,००० कार्षापण से लेकर ६,००० कार्षापण तक होती थी। सामान्य वस्त्र १६ कार्षापण में मिल जाते थे, किंतु बहुमूल्य वस्त्रों का मूल्य एक हजार से लेकर एक लाख कार्षापण तक लगाया जाता था। दास-दासियों का मूल्य उनके गुण के अनुसार कम-अधिक निर्धारित होता था। १०० कार्षापण तक में दास-दासियों के खरीदे जाने के उल्लेख मिलते हैं।

वैशाली की गणना उस काल में जंबूद्वीप (एशिया) के भरतक्षेत्र की दस प्रमुख नगरियों में होती थी। उस काल की अन्य प्रसिद्ध नगरियाँ थीं : राजगृह, चंपा, मिथिला, वाराणसी, साकेत, श्रावस्ती, कौशांबी, काम्पिल्य तथा मथुरा।[२] इन सभी नगरियों में खूब आदान-प्रदान होता था। विदेशों से भी वैशाली का अच्छा संपर्क था। वैशाली के राजकुलों तथा उच्चकुलों में १८ देशों से लायी हुई दासियों का उल्लेख मिलता है। वे यवन देश (यूनान), अरब देश, पारस देश, हुसिन देश (ऋषिक अथवा यूची), पक्कण देश (प्रकराव अथवा फरगना), पह्लव देश, बहली (बाल्हीक), चिलात (संभवतः किरात देश), बर्बर देश (सिंधु नदी के निचले काँठे में स्थित बर्बरिक समुद्रपत्तन इसी जनपद में स्थित था), द्रविड़ देश, मुरुंड, शबर देश आदि से लायी जाती थीं।[3] इनमें कुछ कुब्जा होती थीं, कुछ बौनी, कुछ का पेट आगे निकला रहता था। वे अपने-अपने देश का परिधान और अलंकार धारण करती थीं। वे मन की विचारित और अभिलषित बातों को समझने में कुशल होती थीं और अपनी बातें इंगितों से स्पष्ट करती थीं। वे संभवतः राजाओं के अंतःपुर पर पहरा देने तथा राजाओं के अंगरक्षक के रूप में कार्य करती थीं।

---

१. हिस्ट्री ऐन्ड कल्चर आव दि इंडियन पीपुल (भाग दो)।

२. स्थानांग सूत्र, ७१८ (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १८२)।

३. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज के तृतीय खंड का पहला अध्याय।

उस काल में कृषि, पशुपालन, शिल्प और वाणिज्य-व्यापार जीविकोपार्जन के मुख्य साधन थे। एक ग्राम में ३० से लेकर १,००० कुलों तक का वास होता था। कुल में गृहपति, उसकी भार्याएँ, पुत्र, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, धायमाताएँ, दास-दासियाँ, कर्मकर और कर्मकारियाँ वास करती थीं। कुछ कुलों में श्रमणों, ब्राह्मणों, कृपणों तथा भिक्षुकों को नित्य प्रति पिंडदान दिया जाता था और कुछ कुलों में पक रहे आहार का आधा या चौथाई भाग अग्रपिंड के रूप में देवता तथा भिक्षुओं के लिए निकाल दिया जाता था।[1]

ग्रामवासियों के घर प्रायः गाँव के मध्य में होते थे। सामान्य जनों के घर काष्ठ तथा बाँस से बँधे तथा तृण और पुआल से आच्छादित होते थे। वे गोबर से लीपे-पोते जाते थे और उनकी ऊँची-नीची भूमि को समतल करके सुकोमल बना दिया जाता था। संपन्न कुलों के भवन बनाने में पत्थर, ईंट तथा लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। दीवारों पर स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत, जंगल आदि के चित्र अंकित करने की प्रथा थी।

ग्रामवासियों के गृहों के चारों ओर उनके खेत होते थे। खेतों का वर्गीकरण एक हल, दो हल, चार हल प्रमाण भूमि के रूप में किया जाता था। एक हल के द्वारा १०० निवर्तन (४०,००० वर्ग हाथ) भूमि जोती जाती थी। अधिकांश खेत एक हल, दो हल के होते थे जिन पर एक कुटुंब अपने भरण-पोषण के लिए अन्न उत्पन्न कर लेता था। धनिक गृहपतियों के ऐसे बड़े-बड़े खेतों का भी वर्णन मिलता है जिन पर ५००-५०० हलों से खेती होती थी। इन पर दासों तथा कर्मकरों की सहायता से खेती की जाती थी। कर्मकरों को मजदूरी वेतन तथा अन्न दोनों रूपों में दी जाती थी। उनकी स्थिति दासों से अधिक अच्छी नहीं होती थी। संपन्न कुलों में कुटुंब के साथ वास करके घर का कामकाज करनेवाले लोग कौटुंबिक पुरुष कहलाते थे।

खेतों की सीमा इंगित करने के लिए पत्थर लगा दिये जाते थे। कृषि-भूमि की सीमा से लगी वन-भूमि होती थी, जिससे पता चलता है कि उस काल में वनों को काट-काटकर कृषि-भूमि बनायी जाती थी। कृषि की सफलता मुख्यतया वर्षा पर निर्भर रहती थी। अनावृष्टि या अतिवृष्टि होने से दुर्भिक्ष पड़ जाता था, जब अन्न का एक दाना नहीं होता था। सिंचाई के लिए कुल्याएँ (नालियाँ) बनाकर रहट, कुओं, तालाब, बावड़ी तथा नदी के जल का भी प्रयोग किया जाता था।

सत्रह प्रकार के धान्यों की कृषि का उल्लेख मिलता है, जिसमें जौ, चावल,

---

१. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध।

गोधूम (गेहूँ), मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), तिल, चणक (चना), कोदों, कलाय (मटर), कुलथी आदि की गणना की जाती थी।[1] मसालों में शृंगवेर (अदरक), सुंठ (सोंठ), लवंग (लौंग), हरिद्रा (हल्दी), मिर्च, पीपल तथा सरसों की खेती की जाती थी। कपड़े बनाने के लिए सन और कपास उगाया जाता था। गन्ने की भी खेती होती थी जिसे यंत्रशाला में पेरकर कई प्रकार का गुड़ बनाया जाता था। शर्करा भी बनायी जाती थी। गन्ने की गंडेरियाँ इलायची, कपूर आदि डालकर काँटे (शूल) से खाये जाने का उल्लेख मिलता है।

कृषि के साथ पशुपालन भी उस काल का मुख्य उद्यम था। गाय, बैल, भैंस, भेड़ों तथा बकरियों की गणना चल संपत्ति में की जाती थी। पशुओं के समूह को व्रज अथवा गोकुल कहते थे। एक व्रज में दस हजार गायें होती थीं। पशुओं को चराने के लिए गाँव के बाहर वन में चरागाह होता था, जहाँ पशु दिन भर चरते रहते थे। उनकी देख-भाल के लिए गोपालक, गोप तथा अजपाल रहते थे। ग्वाले ध्वजा लेकर चलते थे और पशु उनका अनुसरण करते थे। संध्या समय पशुओं को वापस गाँव में लाकर बाड़ों में बंद कर दिया जाता था। अक्सर हिंस्र पशु इन बाड़ों में से पशुओं को घसीट ले जाते थे।

ग्राम का प्रधान ग्रामणी अथवा ग्रामयोजक कहलाता था जो ग्रामवृद्धों की सहायता से ग्राम का शासन करता था। वही राजा की ओर से भूमिकर भी वसूल करता था। भूमिकर से प्राप्त होनेवाली आय राज्यकोष का मुख्य आय-स्रोत होती थी, इसलिए राज्य की ओर से कृषि की रक्षा तथा उन्नति के सभी उपाय किये जाते थे। गाँवों में अठारह प्रकार के कर वसूल किये जाने का उल्लेख मिलता है।[2] इसके अंतर्गत सीता-कर (हल पर लिया जानेवाला कर), गोकर, वलीवर्द (बैल) कर, महिष कर, उष्ट्र कर, पशु कर, छगली (बकरी) कर, तृण कर, पुआल कर, भूसा कर, काष्ठ कर, अंगार कर (वनों की लकड़ी से कोयला बनाने पर लिया जानेवाला कर), चरागाह कर, घट कर (कुम्हारों के बर्तनों पर), चर्म कर (चर्मकारों द्वारा चमड़े की वस्तुएँ बनाये जाने पर), प्रत्येक घर से लिया जाने-वाला देहली कर तथा अपनी इच्छा से दिया जानेवाला कर परिगणित किया गया है। राजा के पुत्रोत्पत्ति तथा राज्याभिषेक आदि के अवसरों पर कर माफ कर दिये जाने की प्रथा थी।

गाँव प्रायः एक या दो कोस के अंतर पर होते थे। कुछ गाँव इतने पास–

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० १२३।

२. वही, पृ० १११।

पास होते थे कि एक गाँव के मुर्गे दूसरे गाँव में चले जाते थे। प्रत्येक गाँव में एक सार्वजनिक स्थल होता था जिसे सभा कहते थे। उस स्थल पर ग्रामवृद्ध लोग सामूहिक समस्याओं पर विचार करने के लिए एकत्र होते थे। बाहर से आनेवाले श्रमण, ब्राह्मण और भिक्षु भी इन सभास्थलों में ठहर जाते थे। आगंतुकों के ठहरने के लिए गाँवों में आगंतागारों (धर्मशालाओं) के भी उल्लेख मिलते हैं। प्रपा (प्याऊ) भी गाँव का एक केन्द्रस्थल होता था जहाँ पथिक लोग ठहरते थे। प्रत्येक गाँव की सीमा पर एक देवकुल या चैत्य होता था।

उस काल में भूमि का अधिकांश भाग वनों से आच्छादित था। ये वन गाँव के लोगों के लिए अत्यंत उपयोगी होते थे। वहाँ उनके पशु तो चरते ही थे, इन वनों से उन्हें इंधन तथा मकान बनाने के लिए लकड़ी, लेखन-सामग्री के रूप में काम आनेवाले ताड़पत्रादि तथा रँगाई के काम में आनेवाले विविध पुष्प प्राप्त हो जाते थे। वन-पशुओं के चर्म, नख, हड्डी तथा बालों का उपयोग विविध उपयोगी वस्तुओं के निर्माण में किया जाता था। वनों में अनेक जंगली जातियाँ वास करती थीं।

प्रायः एक गाँव में एक ही वर्ण या व्यवसाय के लोग वास करते थे। अलग-अलग शिल्पियों, यथा बुनकरों, लोहारों, बढ़इयों, रथकारों, कुम्हारों, चित्रकारों के अलग-अलग गाँवों के उल्लेख मिलते हैं, यहाँ तक कि चोरों के गाँवों के भी उल्लेख मिलते हैं। मिश्र गाँव भी होते थे जिनमें विभिन्न वर्णों तथा व्यवसायों के लोग रहते थे।

वज्जीसंघ में इस प्रकार के अनेक गाँवों के उल्लेख मिलते हैं। वैशाली के निकट ही कर्मारग्राम था[1] जहाँ लोहारों की बस्ती थी। उस काल में लोहा उद्योग का पर्याप्त विकास हो चुका था। कर्मारशालाओं में भाथी की सहायता से भट्ठियों में कच्चा लोहा पकाया जाता, फिर गर्म पकते लोहे को सँड़सी से पकड़कर उठाया जाता और लोहे की नेह पर रखकर कूटा जाता और तदुपरांत उससे सुई से लेकर हल, कुदाली, फरसा, वसूला आदि विविध औजार बनाये जाते। लोहे से इस्पात बनाकर वर्म, कवच, कुंत, त्रिशूल, बाण, खड्ग आदि विविध हथियार बनाये जाते। भाथी के प्रयोग के फलस्वरूप[2] हल के फालों को अधिक नुकीला बनाकर भूमि की गहरी जुताई करना संभव हो गया था, जिससे कृषि से होनेवाली पैदावार में विशेष वृद्धि हो गयी थी, जो उस युग की आर्थिक समृद्धि का मूलाधार थी।

---

१. आवश्यकभाष्य, गा० १११।

२. लाइट आन अर्ली इंडियन सोसाइटी ऐंड इकॉनमी।

उस काल में शिल्प और व्यवसाय भी खूब संगठित हो चुके थे। भिन्न-भिन्न व्यवसायों तथा शिल्पों में दक्ष लोग भिन्न-भिन्न श्रेणियों में संगठित थे। शिल्पियों की १८ श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। श्रम-विभाजन का सिद्धांत प्रतिष्ठापित हो चुका था और व्यवसाय वंशानुगत होने लगे थे। प्रायः बाल्यकाल से ही पुत्र शिशिक्षु के रूप में अपने पिता के शिल्प अथवा व्यवसाय की शिक्षा लेना आरंभ कर देता था। शिल्पियों की प्रत्येक श्रेणी एक मुखिया के नेतृत्व में कार्य करती थी जो जेट्ठक कहलाता था। जेट्ठक का सम्मान राजा भी करता था। जेट्ठक शिल्पियों की मजदूरी, कार्य तथा कार्य समाप्त करने की अवधि निर्धारित करता था। काम अच्छा न होने अथवा उसमें दोष होने पर मजदूरी काट ली जाती थी और विशेष दक्षता प्रदर्शित करने पर पुरस्कार भी दिया जाता था। श्रेणियों में प्रवेश के लिए सदस्यों को शुल्क देना पड़ता था। यह शुल्क श्रेणी की स्थायी सम्पत्ति बन जाता था। इस पूँजी से श्रेणी बैंक का कार्य करती थी और सदस्यों को ऋणादि भी देती थी। श्रेणी के अपने कायदे-कानून होते थे, जिनको राजा भी मान्यता प्रदान करता था। श्रेणी सामान्य वादों का निर्णय भी करती थी।

शिल्पियों की श्रेणी की भाँति वणिकों का आर्थिक संगठन भी था, जिसे निगम कहते थे। निगम ब्याज-बट्टे का कार्य करते थे। उस काल में ब्याज को वृद्धि कहते थे। वृद्धि उस काल में पूँजी-निर्माण का प्रमुख साधन थी। ऋण प्रायः लिखित ऋणपत्रों अथवा गिरवी के ऊपर दिये जाते थे। साधारणतया ब्याज की दर सवा प्रतिशत से पाँच प्रतिशत थी। द्वैगुणिक, त्रैगुणिक तथा दशैकादशिक ब्याज लिये जाने के भी उल्लेख मिलते हैं। निगम का सदस्य होने के कारण वणिकों को नैगमिक भी कहते थे। निगम का प्रधान श्रेष्ठी होता था। एक-एक श्रेष्ठी के पास ८० करोड़ मुद्राएँ होने का उल्लेख मिलता है। वह राजा को भी धन प्रदान करता था। श्रेष्ठी अठारह प्रकार की प्रजा का रक्षक माना जाता था और राजा द्वारा मान्य होने के कारण उसका मस्तक देवमुद्रा से भूषित स्वर्णपट्ट से शोभायमान रहता था। राजा बहुधा उसे हाथी पर सवार होकर निकलने का विशेष सम्मान प्रदान कर देता था।

वज्जीसंघ में अनेक श्रेष्ठियों, सार्थवाहों और गृहपतियों का वास था। वज्जीसंघ की आर्थिक समृद्धि में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान था। उस काल में वैशाली के लिच्छवि महार्द्ध माने जाते थे। उस काल में उन कुलों को आढ्य (धनी) माना जाता था जिनके पास छत्र, ध्वजा, पताका तथा स्तूपिकाओं से

युक्त विशाल भवन होता था, जिनके पास बाप-दादों के समय से चला आता इतना पुष्कल हिरण्य-सुवर्ण, कांस्य, वस्त्रालंकार और अन्य सारभूत द्रव्यों का संचित भंडार होता था कि सात पीढ़ी तक खुले हाथों दान देने, बाँटने अथवा भोगने से भी न चुके, जिनका विशाल भवन विपुल परिमाण में शय्याओं, प्रतिशय्याओं (लघु शय्याओं), भद्रासनों, सुखासनों एवं रथ, शकट, हाथी, घोड़े, बैल आदि वाहनों, दास-दासियों तथा गाय, भैंस, बकरी आदि पशुधन से युक्त होता था और जिनके यहाँ भोजनोपरांत बहुत-सा भोजन श्रमिकों, ब्राह्मणों तथा भिक्षुकों में बाँट देने के लिए बच रहता था।[1] लिच्छवियों की आर्थिक समृद्धि का रहस्य यही था कि उनकी राजधानी वैशाली उस काल के उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम से आनेवाले सभी प्रमुख वणिक-पथों का नियंत्रण करती थी।

उस काल में यातायात के लिए जिन वाहनों का प्रयोग किया जाता था, उनमें अश्व सबसे तीव्रगामी होता था। साधारण अश्व एक दिन में छह योजन, मध्यम अश्व नौ योजन और उत्तम अश्व बारह योजन की यात्रा कर लेता था। सवारी के रूप में हाथी का प्रयोग सिर्फ राजा लोग या राजपरिवार के लोग करते थे। राजा की विशेष अनुमति से ही अन्य उच्चकुलों के लोग हाथी की सवारी कर सकते थे। हाथी का नामकरण करने की प्रथा थी और उसे पुष्पमालाओं, वैजयंती तथा विविध अलंकारों से विभूषित किया जाता था। उसकी पीठ पर बैठने के लिए अंबारी रखी जाती थी; उसमें बैठा हुआ मनुष्य दिखाई नहीं पड़ता था। हस्तिरत्न की गणना राजरत्न में की जाती थी। चतुरंगिणी सेना में हस्तिबल का सबसे अधिक महत्त्व था और उसी पर राजा की हार-जीत निर्भर रहती थी।

उच्चकुलों के लोग गमनागमन के लिए पालकियों अथवा रथों का प्रयोग करते थे। पालकियाँ अनेक प्रकार की होती थीं। शिखर के आकार की ढकी हुई पालकी शिविका कहलाती थी। राजा तथा धनिकों द्वारा उपयोग में लायी जानेवाली पुरुष-प्रमाण पालकी स्यंदमानी कहलाती थी। दो पुरुषों द्वारा उठाकर ले जायी जानेवाली डोली का भी उल्लेख मिलता है।

रथ भी अनेक प्रकार के होते थे। चार घंटों से युक्त अश्वरथ सबसे तेज चलनेवाले होते थे और उच्चकुलों के लोग उनका प्रयोग करते थे। चार घोड़ेवाले रथों का भी उल्लेख मिलता है। सामान्य रथ में बैल जोते जाते थे जिनके गले में घंटियाँ तथा नाक में सुवर्णखचित सूत्र की रस्सियाँ बँधी रहती थीं। इस

---

१. विपाकसूत्र, दूसरा अध्याय, पृ० १२०।

प्रकार के शीघ्रगामी रथ लघुकरण रथ कहलाते थे। यात्रा तथा माल ढोनेवाले यान अलग-अलग प्रकार के बनाये जाते थे। बिना छतवाले माल ढोने के यान शकट कहलाते थे। क्रीड़ादि में प्रयुक्त होनेवाले रथ परिमानिक और संग्राम में प्रयुक्त संग्रामिक कहलाते थे।[१]

बैठने के लिए अनेक प्रकार के आसनों का प्रयोग किया जाता था। आकृति के अनुसार उन्हें हंसासन, क्रौंचासन, गरुड़ासन, भद्रासन, मकरासन, पद्मासन आदि कहते थे। शय्याएँ भी अनेक प्रकार की होती थीं। लघुशय्याएँ (प्रतिशय्याएँ) भी प्रचलित थीं जो कोच का काम देती थीं।

अग्नि काष्ठ से काष्ठ को रगड़कर जलायी जाती थी। गृहाग्नि रखने की प्रथा थी। रात्रि में प्रकाश के लिए दीपकों का प्रयोग किया जाता था। दीपक नाना प्रकार के होते थे। शृंखलाओं से बँधे दीपक अवलंबन तथा ऊर्ध्व दंड से लटके दीपक उत्कंपन कहलाते थे। कंदील की भाँति गोलाकार अवरक के घट में रखे हुए दीपक पंजर कहलाते थे।

समय का विभाजन पुरुष की छाया के घटने-बढ़ने के आधार पर किया जाता था।[२] जब तक पुरुष की छाया उसके आकार से तीन गुनी से कम न हो, उतने काल को समय का पहला भाग मानते थे। जिस काल में पुरुष की छाया की लंबाई उसके आकार के समान रहती थी, उसे समय का दूसरा भाग मानते थे। जब छाया पुरुष के आकार से घटकर केवल चार अंगुल रह जाती थी, उसे समय का तीसरा भाग मानते थे। मध्याह्न सूर्य का काल समय का चौथा भाग माना जाता था। इसी प्रकार उलटे क्रम से दिन के उत्तरार्द्ध के भी चार भाग किये जाते थे। दिन की भाँति रात्रि को भी नक्षत्रों के आधार पर आठ भागों (प्रहरों) में विभाजित किया जाता था। नगरों में तूर्य बजाकर समय की सूचना दी जाती थी।

उस काल के सामान्य भोजन में शाल्य (चावल), दूध, दही, नवनीत, घृत, गुड़, तेल, मधु, शष्कुली (लूची), पूड़े तथा शिखरिणी (श्रीखंड) का उल्लेख मिलता है।[3] राजकुलों तथा उच्चकुलों में रसोइये १८ प्रकार के व्यंजन तैयार करते थे। भोजन सामग्री का वर्गीकरण चार प्रकार से किया जाता था—अशन, पान, खादिम और स्वादिम। दाल, भात, गुड़ भरकर बनायी रोटी, वड़ा,

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज के तृतीय खंड का तीसरा अध्याय।

२. कौटिल्य की राज्यव्यवस्था।

३. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज के तृतीय खंड का चौथा अध्याय।

पूआ आदि जिन व्यंजनों से भूख शांत हो उन्हें अशन कहते थे। जूस, पानी, आम या नीबू के पानी का शर्बत, जिससे प्यास शांत हो, पान कहलाता था। गोरस, मेवा से युक्त दूध, द्राक्षासव आदि पानक जिनसे प्यास और भूख दोनों शांत हों, खादिम कहलाता था। घेवर, तिल की बनी मिठाई, गोलपापड़ी, पापड़ आदि खाद्य पदार्थ जो स्वाद के लिए खाये जाते थे, स्वादिम कहलाते थे।

१८ प्रकार के व्यंजनों में मद्य और मांस का भी प्रचलन था। मदिरा का व्यापार रसवाणिज्य कहलाता था। नगरों में मदिरा की दूकानों (रसापणों) पर ध्वजा लगी रहती थी जहाँ नाना प्रकार की मदिराएँ बिकती थीं। इन पानालयों में राज्य की ओर से गुप्तचर नियुक्त होते थे। अक्सर धनिकों के बिगड़े हुए पुत्र निक्षेप (धरोहर), उपनिधि (गिरवी) तथा प्रभोग (अमानत) के माल में खयानत करके उस द्रव्य को मदिरापान में व्यय कर डालते थे। ऐसे अपराधियों का पता लगाने के लिए पानालय उचित स्थान समझा जाता था। कापिशी तथा हारहूर आदि देशों से लायी हुई सुरा विशेष मूल्यवान् होती थी। सामान्य सुरा का एक गिलास एक माषक में मिल जाता था।

जलचर, थलचर तथा नभचर पशु-पक्षियों का मांस तलकर, भूनकर, सुखाकर तथा नमक मिलाकर तैयार किया जाता था। राजकुलों तथा उच्चकुलों में मच्छीमार, चिड़ीमार, शिकारी आदि भोजन-वेतन पर नौकर होते थे जो मत्स्य, बकरे, मेढ़े, हरिण, तीतर, मुर्गे, मोर आदि पशु-पक्षी मारकर लाते और रसोइये उनसे मत्स्य-रस, तित्तिर-रस, मयूर-रस बनाते और भोजन-मंडप में ले जाकर परोसते। सखंडियों (सामूहिक भोजों) में मांस भी परोसा जाता था। नगरों में राजमार्गों पर अंडवणिकों की दूकानें भी होती थीं जहाँ वे अंडों को तवों, कड़ाहों, हंडों अथवा अंगारों पर तलते, भूनते अथवा पकाते हुए अपनी आजीविका कमाते थे।

भोजन के बाद तांबूल और पूगफली (सुपारी) खाने का रिवाज था। लोग पान में जायफल, सीतलचीनी, कपूर, लौंग और सुपारी डालकर खाते थे।

उस काल में पुरुषों का प्रचलित परिधान अधोवस्त्र (अंतरीय अर्थात् धोती) तथा उत्तरीय (दुपट्टा) था।[1] राजकुलों तथा उच्चकुलों के पुरुषों का वैभव उनके उत्तरीय से लटकते हुए मोतियों के झूमकों तथा आभूषणों से सूचित होता था। पुरुष लोग भी कानों में कुंडल, गले में अठारह लड़ी, नौ लड़ी, तीन लड़ी, एक लड़ी

१. भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, परिशिष्ट–१ वेशभूषा।

का हार, मोतियों का हार (मुक्तावली), नाभि तक लटकनेवाले हार (प्रलंब), ग्रैवेयक (गले का हार), हाथों में वीर वलय (कड़े) तथा नाममुद्रिका (अँगूठी) धारण करते थे। सिर पर उष्णीस (पगड़ी) बाँधने का रिवाज था। पगड़ियाँ कई प्रकार से वृत्ताकार, व्यजनाकार, ढोलकाकार, वेलनाकार बाँधी जाती थीं। जूते भी एक तले से लेकर चार तले तक के पहने जाते थे। काष्ठ, सोने, चाँदी, ताँबे, स्फटिक तथा वैदूर्य की पादुकाएँ भी पहनी जाती थीं।

स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। साड़ी कई तरह से बाँधी जाती थी। उच्चकुलों में वक्षस्थल पर कंचुकी (बिना सिया वस्त्रखंड) बाँधने का रिवाज था। संभवतः निर्धन कुलों की स्त्रियों का वक्षस्थल अनावृत रहता था। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी नाना प्रकार के आभूषणों से अपने को अलंकृत करती थीं। सिर पर वेणी, कानों में कुंडल, गले में अनेक प्रकार के हार, कटि में क्षुद्रघंटिकाओं से युक्त मेखला, करों में चूड़ियाँ तथा कड़े, उँगलियों में अँगूठियाँ तथा पैरों में अनेक आभूषण पहनने का रिवाज था। वे केशों को अनेक प्रकार से गूँथती तथा उन्हें पुष्पों से अलंकृत करती थीं, मस्तक को बिंदी-टिकुली तथा कपाल को पत्र-भंग से अलंकृत करती थीं। आँखों को आँजने का भी रिवाज था।

वज्जीसंघ के लिच्छवि परिधान धारण करने में अत्यंत सौंदर्यप्रिय थे। जिस रंग के वस्त्र धारण करते थे, उसी रंग के अलंकार और रत्न भी धारण करते थे, उसी रंग के जूते पहनते थे और उसी रंग के वाहनों पर चढ़कर नगर से निकलते थे। स्त्रियाँ भी इसी रीति से रूप-सज्जा करती थीं।

लिच्छवि अत्यंत उत्सवप्रिय थे। सवरत्तिचार नामक उत्सव का उल्लेख मिलता है जिसमें राजा, युवराज, सेनापति, भांडागारिक आदि सभी नागरिक सारी रात जागकर गायन-वादन और आमोद-प्रमोद में समय बिताते थे। पण्य-स्त्रियाँ (वेश्याएँ) तथा गणिकाएँ उस काल के समाज का अभिन्न अंग थीं। गोष्ठियों में वेश्याओं तथा गणिकाओं को उद्यान में ले जाकर विहार करने तथा रंगरेलियाँ मनाने के उल्लेख मिलते हैं। गणिका की गणना नगर की शोभा तथा राज्य-रत्न में होती थी। वह सब वेश्याओं की प्रधान होती थी। राजा की ओर से उसे छत्र, चामर तथा वालव्यजनिका धारण करने तथा कर्णीरथ पर गमन करने की अनुमति दी जाती थी।[1] गणिकाओं के भवन पर ऊँची ध्वजा फहराती थी। उन्हें गणिकाओं के आचार-विचार की शिक्षा दी जाती थी। वे संगीत विद्या, काम क्रीड़ा, गंधर्व विद्या (नृत्य-संगीत) तथा नाट्य (नृत्य)

१. विपाकसूत्र, दूसरा अध्याय।

कला में प्रवीण होती थीं। बहुधा राजा लोग उन्हें अपने अंतःपुर में रख लेते थे। तब वे अन्य पुरुषों से समागम नहीं कर सकती थीं। वेश्यापुत्र गायन-वादन में निपुण होते थे। उन्हें नपुंसक बनाकर नपुंसक कर्म की शिक्षा दी जाती थी। वे वर्षधर कहलाते थे और राजाओं के अंतःपुर पर पहरा देते थे।

वैशाली की अंबपालिका गणिका का उल्लेख मिलता है। उसकी फीस ५० कार्षापण थी। वैशाली के शाखा-नगर वणिज्यग्राम में कामध्वजा गणिका रहती थी।[1] वह गीत-नृत्यादि के लिए सहस्र मुद्रा फीस लेती थी।

वैशालिक केवल आमोद-प्रमोद-प्रिय ही नहीं, अच्छे धनुर्धर और योद्धा भी थे। वे बड़े विद्याप्रेमी थे और विद्यार्जन के लिए दूर-दूर की यात्राएँ करते थे। वैशाली के आचार्य महाली ने तक्षशिला में जाकर धनुर्विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। तक्षशिला केवल व्यापार का ही नहीं, उच्च शिक्षा का भी केंद्र था। वाराणसी तथा श्रावस्ती भी उस काल के प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र थे। परंतु वहाँ के विद्यार्थी भी उच्च शिक्षा के लिए तक्षशिला जाते थे। तक्षशिला के दिशाप्रमुख आचार्यों के चरणों में बैठकर वेद, व्याकरण, दर्शन, नक्षत्रविद्या, ज्योतिष, कृषि, इंद्रजाल, संगीत, नृत्य, चित्रकला एवं धनुर्विद्या की शिक्षा लेने के लिए सारे जंबूद्वीप से विद्यार्थी पहुँचते थे।

लिच्छविकुमार महाली ने[2] तक्षशिला में धनुर्विद्या सीखने के बाद वहाँ से लौटकर अपनी विद्या का प्रदर्शन करते समय इतना उत्साह दिखाया कि उनकी आँखें फूट गयीं। लिच्छवियों ने उनके शौर्य से प्रभावित होकर उनकी सेवा से वंचित होना उचित नहीं समझा। उनकी आजीविका का प्रबंध करने के उद्देश्य से उन्हें एक लाख की आयवाला एक नगरद्वार सौंप दिया। वे वहीं बैठकर पाँच सौ लिच्छविकुमारों को धनुर्विद्या की शिक्षा देते थे।

विद्या के क्षेत्र में भारत उस काल की सभ्य दुनिया के सभी देशों में अग्रगण्य था। अध्यात्म विद्या, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, तर्कशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, गणित, रेखागणित, नक्षत्र विद्या (खगोलशास्त्र), ज्योतिष, स्वप्नशास्त्र, अंग विद्या (भविष्य कथन), व्याकरणशास्त्र, शब्दशास्त्र, संगीतशास्त्र, नाट्यशास्त्र, चित्रकला, मूर्तिकला तथा वास्तुविद्या (स्थापत्य कला) के क्षेत्र में उसने विशेष उन्नति कर ली थी। अभिनय कला का भी पर्याप्त विकास हो चुका था और

---

१. वही, पृ० १०६।

२. बुद्धचर्या, पृ० ४४०।

राजप्रासादों में प्रेक्षागृह मंडपों (नाट्यशालाओं) का उल्लेख मिलता है। उस काल के भारतीय चिकित्सकों को शरीरशास्त्र का यथेष्ट ज्ञान था और वे व्रण चिकित्सा (युद्धक्षेत्र में लगनेवाले घावों की चिकित्सा) तथा शल्य चिकित्सा में कुशल होते थे। पशु-पक्षियों की चिकित्सा भी आयुर्वेद का अंग मानी जाती थी।

उस काल में विद्याविद् उसी व्यक्ति को माना जाता था जो चार वेद, पाँचवें इतिहास, छठे निघंटु, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष शास्त्र का जाननेवाला होता था। इसके अतिरिक्त वह लोकायत शास्त्र, षष्ठितंत्रशास्त्र (कापिलीय शास्त्र यानी सांख्यशास्त्र), नीतिशास्त्र तथा आचारशास्त्र का भी ज्ञाता होता था।

उस काल में वेदादि के अध्ययन के लिए विद्यार्थी समिधा लेकर आचार्य के आश्रम में उपस्थित होते थे और उनके अंतेवासी बनकर विद्यालाभ करते थे। अध्ययन मौखिक रीति से होता था। गुरु वेदमंत्रों का स्वरसहित पाठ करते थे और शिष्य उन्हें ज्यों का त्यों उच्चारण करके कंठस्थ कर लेते थे। अध्ययन काल में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य वास करते थे और अत्यंत सादा जीवन बिताते थे। भूमि पर शयन करते थे, जूतों का उपयोग नहीं करते थे, किसी प्रकार का अंग-लेपन नहीं करते थे, छत्रग्रहण नहीं करते थे और भिक्षाचर्या द्वारा उदरपोषण करते थे। आचार्य की आज्ञानुसार सब प्रकार का शारीरिक श्रम करने के लिए तत्पर रहते थे। गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र का सम्मान करते थे। गुरु-शिष्य में पिता-पुत्र का मधुर संबंध होता था। शिष्य के उठने, बैठने, बोलने, चलने-फिरने—समस्त आचरण पर गुरुकुलवास की स्पष्ट छाप लग जाती थी।

उस काल में आध्यात्मिक विद्याओं के साथ-साथ लौकिक विषयों की भी शिक्षा प्रचलित थी। लौकिक विद्याओं में शिल्पों (कलाओं) की शिक्षा सबसे अधिक लोकप्रिय थी। ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है, जिनमें निष्णात होना उस काल के सुसंस्कृत नागरिक की निशानी मानी जाती थी। इन कलाओं में लेखन और गणित का सर्वोपरि स्थान था। बालक जब आठ वर्ष का होता था तब सबसे पहले लेखशाला में प्रवेश करके लेखन और गणित की शिक्षा प्राप्त करता था। इसके बाद वह अपनी रुचि के अनुसार अन्य शिल्पों तथा विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करता था।

तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख मिलता है—कलाचार्य, शिल्पाचार्य

तथा धर्माचार्य ।[१] प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद विद्यार्थी को जिस विषय की शिक्षा अभीष्ट होती थी, वह उसके आचार्य की सेवा में उपस्थित होता था। क्षत्रिय कुमार के लिए व्यूह रचना, सेना के परिमाण का ज्ञान, बाण तथा अन्य अस्त्रों का ज्ञान, तलवार के लक्षण का ज्ञान, खड्‌गविद्या, धनुर्विद्या, मल्लयुद्ध, मुष्टि युद्ध, बाहुयुद्ध, लता की भाँति शत्रु से लिपटकर तथा अन्य रीतियों से युद्ध करने की कला का ज्ञान, हाथियों, घोड़ों के लक्षणों का ज्ञान अत्यंत उपयोगी होता था। इसी प्रकार छंदज्ञान, अंगलेपन, वस्त्र पहनने तथा अलंकार धारण करने की विद्या तथा पासे और चौपड़ का ज्ञान भी उसके नागरिक जीवन में सहायक सिद्ध होता था।

उस काल में लेखन कला का पर्याप्त विकास हो चुका था। रुई के चिथड़े को कूट-कूटकर लिखने का कागज बनाने का उल्लेख मिलता है।[२] भोजपत्रों के अलावा, काष्ठ, लोहे, ताँबे तथा रजतपत्रों पर भी लेखन का प्रचार था। संपत्ति का विवरण बीज अक्षरों में लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। प्रेमपत्रों के लिए भी गुप्तलिपि का प्रयोग किया जाता था। युद्धारंभ से पूर्व शत्रु के पास दूत के द्वारा पत्र भेजने का रिवाज था। युद्ध के लिए ललकारने के उद्देश्य से दूत भाले की नोक पर रखकर इस पत्र को प्रस्तुत करते थे। नया वर्ष आरंभ होने पर वर्षफल सुनाने की प्रथा थी। जन्मपत्रों के लिखने का भी प्रचलन था। महापथों पर दूरी की सूचना देनेवाले पत्थर लगाये जाते थे। पोत्थक (पुस्तक) का भी उल्लेख मिलता है। वज्जीसंघ में अपराधियों को दंड प्रवेखी पुस्तक में लिखे नियमों के अनुसार दिया जाता था।

जनश्रुतियों के अनुसार वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली नगरी की स्थापना 'इक्ष्वाकोः पुत्रः' राजा विशाल ने की थी और उन्हीं के नाम पर यह नगरी पहले विशाला कहलाती थी। ऋषि विश्वामित्र जब राम और लक्ष्मण को लेकर मिथिला गये थे तो रास्ते में वैशाली नगरी भी पड़ी थी। उन्होंने गंगा के उत्तरी तट पर खड़े होकर दूर से स्वर्ग के समान रम्य और दिव्य इस नगरी को देखा था।

उस काल की अन्य प्रसिद्ध नगरियों की भाँति यह नगरी भी द्विभूमिक, त्रिभूमिक से लेकर सप्तभूमिक (सतमंजिले) प्रासादों तक से युक्त, आंतरिक और बाह्य उपद्रवों से रहित, धन-धान्य से समृद्ध तथा आराम, उद्यान, कूप, तालाब,

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चतुर्थ खंड, चौथा अध्याय।

२. भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

तथा दीर्घिकाओं (वावड़ियों) से शोभायमान थी। इसकी सीमा पर हजारों हलों द्वारा खेती की जाती थी। किसान अपने खेतों में ईख, जौ और चावल वोते तथा गाय, भैंस और भेड़ें पालते थे। इसके राजमार्गों पर हाथी, घोड़े, रथों और पालकियों के गमनागमन से निरंतर भीड़ रहती थी।[1]

इस नगरी में अनेक नट, नर्तक, रस्सी पर खेल करनेवाले, तैराक, रास-गायक, बाँस पर खेल दिखानेवाले, तूण बजानेवाले, तुम्ब की वीणा बजाने-वाले, ताल देकर खेल दिखानेवाले, चित्र दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले, शुभा-शुभ बखाननेवाले ज्योतिषी, मुष्टि से युद्ध करनेवाले तथा मल्ल निवास करते थे। यहाँ के लोग आमोद-प्रमोद के लिए कुक्कुरों और साँड़ों को पालते थे। उस काल की अन्य नगरियों की भाँति इस नगर में भी पण्य-तरुणियों (वेश्याओं) के मोहल्ले थे।

इस नगरी के चारों कोनों पर चार चैत्य (यक्षायतन) थे। उस काल में सामान्य जनों में यक्षपूजा प्रचलित थी। उनको रक्षक, पुत्रदाता, रोगनाशक तथा बलदायक माना जाता था। कुपित होने पर वे कष्टदायक भी सिद्ध होते थे। वे जिस गाँव या व्यक्ति पर क्रुद्ध होते थे उसका विनाश कर देते थे।

वैशाली नगरी के पूर्व में उदयन चैत्य, पश्चिम में सप्ताम्रक चैत्य, उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य तथा दक्षिण में गोतमक चैत्य था। चारों चैत्य वेदी, छत्र, ध्वजा और घंटे से शोभित थे। उनमें रोएँ की बनी मार्जनी से बुहारी दी जाती, भूमि गोबर से लीपी जाती और दीवारें खड़िया मिट्टी से पोती जाती थीं। उन पर गोशीर्ष और रक्तचंदन के पाँच उँगलियों के थापे लगाये जाते थे। द्वार पर चंदन-कलश रखे जाते थे और पुष्पमालाएँ लटकती रहती थीं। चैत्य विविध रंगों के पुष्प, कुंदरुक्क, तुरुष्क और गंध-गुटिकाओं की सुगंधि से महकते रहते थे। नट-नर्तक आदि वहाँ अपना खेल दिखाते और भक्त लोग अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिए चंदन आदि से पूजा-अर्चना करते थे।

चारों चैत्य वन-खंड से आवेष्टित थे, जिनमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे थे। वृक्ष पत्र, पुष्प तथा फलों से आच्छादित थे जिन पर नाना पक्षी क्रीड़ा करते थे। ये वृक्ष भाँति-भाँति की लताओं से आवेष्टित थे। भक्त लोग जब पूजा-वंदन के लिए आते थे तो अपने रथ आदि वाहन यहीं खड़े कर देते थे।

---

१. औपपातिक सूत्र (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग–२)।

उस काल की अन्य नगरियों की भाँति वैशाली नगरी भी चारों ओर परिखा (खाई) और प्राकार (परकोटा) से वेष्टित थी। प्राकार कपिशीर्षकों (कँगूरों) तथा अट्टालकों (बुर्जों) से शोभित था। अट्टालकों पर नगर की रक्षा के लिए चक्र, गदा, भुसुंडि[1], उरोह (छाती को चोट पहुँचानेवाला अस्त्र) आदि से लैस सैनिक नियुक्त थे। नगर में शत्रुओं का प्रवेश दुष्कर बनाने के लिए प्राकार पर स्थूल तथा दीर्घ कीलों से युक्त महास्तंभ लगे थे।

नगर में प्रवेश के लिए पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में तीन मुख्य द्वार (गोपुर) थे जो अट्टालकों से युक्त थे। प्रत्येक नगर-द्वार पर नगर की रक्षा के लिए धनुर्धर सैनिकों की टोली नियुक्त थी। नगर-द्वार निश्छिद्र कपाटों से युक्त थे और उनके अर्गल (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गये थे। फलतः इन कपाटों को तोड़कर नगर में प्रवेश करना सुगम न था। नगरद्वार सूर्यास्त के बाद बंद कर दिये जाते थे।

नगरद्वारों के पास ही ऊँची ध्वजा फहराती शुल्कशालाएँ थीं। वणिकों के सार्थ जब नगरी में प्रवेश करते थे तो सबसे पहले शुल्कशाला में जाकर निम्न विवरण अंकित कराते थे—वे कहाँ के निवासी हैं, कहाँ से आये हैं, उनके पास कितनी और किस प्रकार की विक्रय-सामग्री है, उस विक्रय-सामग्री पर कहाँ और किस-किस प्रकार की मुद्रा लगी है। वणिकों को अपनी विक्रय-सामग्री के परिमाण तथा मूल्य के अनुसार शुल्क देना पड़ता था। एक-एक नगरद्वार से एक लाख की आमदनी होने का उल्लेख मिलता है।

नगर अनेक चौड़े महापथों से युक्त था। उनका मध्य भाग कछुए की पीठ की भाँति ऊपर उठा हुआ था ताकि जल का संचय न हो सके। पानी की निकासी के लिए दोनों ओर नाले बने थे, जिनका मुँह ऊपर से ढँका हुआ था। नागरिकों के भवनों की नालियों का मुँह इन नालों से जुड़ा हुआ था। नालों का पानी परिखा में बह जाता था।

नगर के प्राकार और गृहों के बीच हाथियों के चलने लायक पथ था जो चरिका कहलाता था। चरिका के अतिरिक्त नगर में रथ, तुरंग, मनुष्यों और पशुओं के संचरण के लिए रथ-पथ, वाजि-पथ, मनुष्य-पथ और पशु-पथ बने थे। दो या अधिक महापथों के मिलने से नगर में अनेकानेक तिराहे और चौराहे थे जो अपने आकार के अनुसार सिंघाटक (सिंघाड़े के आकार के मार्ग), त्रिक

---

१. तलवार अथवा भाले की भाँति हाथ से चलाया जानेवाला एक चमकदार और अंदर से खोखला अस्त्र जिसमें घंटियाँ लगी रहती थीं।

(त्रिपथ), चउक्क (चतुष्पथ अथवा चौक) तथा चत्वर (चार से अधिक पथों के मिलने के स्थल) कहलाते थे। महापथों तथा चत्वरों के किनारे वणिक तथा शिल्पी लोग अपना माल बेचते थे।

नगरी में क्षत्रियों, ब्राह्मणों, गृहपतियों तथा निम्नकुलों के अलग-अलग वास की व्यवस्था थी। नगर के केंद्रभाग में राजकुलों का वास था। उनके भवन कई भूमियों (मंजिलों) वाले तथा स्तूपिकाओं से युक्त थे। उनके शिखर भाग छत्रातिछत्रों (छत्र के ऊपर छत्र) तथा पताकाओं से शोभायमान थे। उन भवनों के ऊँचे प्रवेशद्वार (तोरण) पुत्तलिकाओं से अलंकृत थे। तोरण के अतिरिक्त भवनों में प्रवेश के लिए अनेक प्रतिद्वार बने थे। इन सभी द्वारों पर चंदन-कलश स्थापित थे। भवनों की दीवारें गोशीर्ष और रक्तचंदन के थापों और नाना प्रकार के चित्रों से अलंकृत थीं।

जनश्रुतियों के अनुसार वैशाली नगरी का विस्तार इतनी शीघ्रता से हुआ था कि इस नगरी के चारों ओर एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा परकोटा बनाने की आवश्यकता पड़ गयी। ये तीनों परकोटे एक दूसरे से एक-एक गव्यूति (कोस) की दूरी पर थे। नगरी के इन तीन विभागों में क्रमशः ७,०००, १४,००० तथा २१,००० भवन बने थे, जिनमें उत्तम, मध्यम तथा निम्न कुलों का वास था।[1]

उस काल में वर्ण-व्यवस्था उतनी कठोर नहीं थी जितनी बाद के युगों में हो गयी। कर्म, व्यवसाय तथा वर्णसंकरता के आधार पर अनेक नई-नई जातियों एवं उपजातियों का प्रादुर्भाव हो रहा था। विवाह संबंध समान वर्ण तथा समान कुल में होने के बावजूद अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह होते रहते थे। प्राचीन जैनागमों तथा बौद्धागमों से प्रकट होता है कि कम-से-कम प्राच्य जनपदों में चारों वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता सर्वमान्य नहीं थी। इन जनपदों के क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते थे। वे ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों से किसी प्रकार पीछे नहीं थे, बल्कि वेदविद् अग्निहोत्री ब्राह्मण ब्रह्मविद्या सीखने के लिए उनके पास पहुँचते थे। संभवतः औपनिषदिक विचारों का विकास इन्हीं प्राच्य जनपदों में हुआ।

जैनागमों में वज्जीसंघ में निम्न कुलों के वास का उल्लेख मिलता है: ज्ञातृ (अथवा लिच्छवि) कुल, इक्ष्वाकु कुल, कौरव कुल, उग्र कुल (जिन कुलों पर राज्य की सुव्यवस्था व आरक्षा का भार रहता था और जो दंड आदि धारण

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० २१२।

करते थे), भोग कुल (जिन कुलों के लोग राजा के अमात्य होने के कारण गुरु-स्थानीय माने जाते थे), राजन्य कुल (राजकुल के वे लोग जो राजा के समीपस्थ, समान वयवाले तथा मित्र रूप में परामर्श देनेवाले होते थे) तथा क्षत्रिय कुल (राजकुल के अतिरिक्त शेष अन्य कुल)।

इनके अतिरिक्त वेसियकुल अथवा वैश्यकुल (कृषि कर्म करनेवालों के कुल), एसिय कुल (गोपालकों आदि के कुल), बुक्कारु कुल (बुनकरों के कुल), गंडाक कुल (केशालंकार करनेवाले तथा गाँव अथवा नगर में उद्घोषणा करनेवाले नापितों के कुल) का भी उल्लेख मिलता है।

कुछ प्राचीन ग्रंथकारों ने उस काल के आर्य कुलों का वर्गीकरण क्षेत्र, भाषा, जाति, कर्म तथा शिल्प के आधार पर किया है। उन्होंने आर्य क्षेत्र में निवास करने वाले तथा आर्य भाषाएँ बोलनेवाले सभी कुलों को आर्य कुल के अंतर्गत माना है। उस काल में पश्चिम में कुरु जनपद से लेकर पूर्व में अंग जनपद तक तथा उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में गोदावरी के तट पर स्थित अश्मक जनपद तक का भूभाग आर्य क्षेत्र माना जाता था। इसे मज्झिम देश (मध्य देश) भी कहा गया है। इस क्षेत्र में अनेक बोलियाँ बोली जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मागधी बोली का ही एक मिश्रित रूप अर्द्धमागधी इस सारे क्षेत्र में आसानी से समझ ली जाती थी।

इन ग्रंथकारों ने पितृपक्ष और मातृपक्ष की दृष्टि से आर्य कुलों का वर्गीकरण कुल-आर्य और जाति-आर्य में किया है। उन्होंने कुल-आर्यों में उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, ज्ञातृ और कौरव कुलों को तथा जाति-आर्यों में अम्बष्ठ (मनु ने इनका जातीय उद्यम चिकित्सा कर्म बताया है), विदेह, हरि आदि कुलों को गिना है।

उन्होंने कर्म-आर्यों में दूष्य (धुस्सों) का व्यापार करनेवालों, सूत का व्यापार करनेवालों, कपास का व्यापार करनेवालों, भांडों का व्यापार करनेवालों, कुम्हारों (कोलालिय) आदि के कुलों की गणना की है।

शिल्प-आर्यों में तंतुवाय (बुनकर), पट्टकार (पटुवा), मशक बनानेवालों, चटाई आदि बुननेवालों, लकड़ी व मूँज की वस्तुएँ बनानेवालों, छाता बनानेवालों, मिट्टी के पुतले बनानेवालों, लेपकर्म करनेवालों, चित्रकार, शंखकार, दंतकार, भांडकार, माला बनानेवालों, कौड़ियों की माला बनानेवालों के कुलों की गणना की गयी है। पुराणों में इनमें से अनेक कुलों को वर्णसंकर बताया गया है।

भिक्षुकों, कृपणों (जिनकी जीविका का कोई ठिकाना न हो), मयूरपोषकों, कुक्कुटपोषकों, बाँस के ऊपर खेल दिखानेवालों, व्याधों, मच्छीमारों आदि की गणना तुच्छ कुलों तथा चांडालों, डोमों, मातंगों आदि की गणना जुगुप्सित कुलों में की गयी है।

पुराणों में लिच्छवियों की गणना व्रात्य क्षत्रियों में की गयी है, जिससे ध्वनित होता है कि वे यज्ञ-यागादि के वेदविहित मार्ग में आस्था नहीं रखते थे। प्राचीन जैनागमों तथा बौद्धागमों से प्रकट होता है कि उस काल में इस मार्ग में आस्था न रखनेवाले अनेक श्रमण पंथ विद्यमान थे। वैशाली के लिच्छवि भी इन्हीं श्रमणों के उपासक थे।

उस काल में विदेह, अंग, मगध, काशी और कोशल में श्रमणों को उतना ही पूज्य स्थान प्राप्त था जितना ब्राह्मणों को। उनके अनेक गण अथवा संघ थे। वे गृहबंधन से रहित होने के कारण अनगार (बेघर) तथा बराबर ग्रामानुग्राम विचरण करते रहने के कारण परिव्राजक भी कहलाते थे। वे मुंडित सिर होते थे, भिक्षाचर्या पर निर्वाह करते थे और तपस्यारत जीवन व्यतीत करते थे। वे वेदादि आनुश्रविक ज्ञान के बजाय स्वयं से साक्षात्कार किये गये ज्ञान को प्रमाण मानते थे। वे यज्ञों को निरर्थक मानते थे और ब्राह्मणों के इस प्रचार का उपहास करते थे कि यज्ञ में पशुवध करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उनका कहना था कि यदि ब्राह्मणों के कथनानुसार यज्ञ में पशुवध करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो यज्ञकर्ता अपने वृद्ध माता-पिता का ही वध क्यों नहीं कर डालते। उस काल में पशुओं का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, क्योंकि पशुधन पर ही कृषि की समृद्धि निर्भर थी। इसलिए सामान्य जनता पर उनकी बातों का भारी प्रभाव पड़ता था। वे गोत्रवाद तथा कुलवाद में विश्वास नहीं करते थे और जगत् के सभी जीवों के प्रति समता भाव रखने का उपदेश देते थे।

उस काल के विविध श्रमण संघों में निगंठ (निर्ग्रंथ) श्रमणों की परंपरा अत्यंत प्राचीन थी। बौद्धागमों से भी इस बात की पुष्टि होती है। वज्जीसंघ उस काल में निगंठ श्रमणों का मुख्य केंद्र था। वैशाली के सिंह सेनापति (वैशाली के गणराजा चेटक के पुत्र सिंहभद्र) का कुल दीर्घकाल से निगंठों के लिए प्याऊ की भाँति था। वैशाली का धर्मगुरु सच्चक भी निगंठ था।

इन निगंठ श्रमणों में जो जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँच जाते थे वे अर्हत (पूज्य) कहलाते थे। वज्जीसंघ में इन अर्हत श्रमणों का बड़ा मान किया जाता था। वे जहाँ पर वास करें, उसके आस-पास कोई पेड़ न काटे, जाल बिछाकर

मृगों को न पकड़े, तालाब में मछलियाँ न मारे, इन सब बातों की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी।

निगंठ श्रमणों की विशेषताएँ निम्न प्रकार थीं : नग्न रहना, मुंडित होना, छत्र न धारण करना, उपानह न पहनना, भूमि, फलक अथवा काष्ठशय्या पर सोना, अपने हाथों से केशलोंच, ब्रह्मचर्य वास, भिक्षा के लिए उत्तम, मध्यम तथा निम्न कुलों में जाना, अनुकूल तथा प्रतिकूल परीषहों (परीक्षाओं) को सम भाव से सहन कर उन पर जय प्राप्त करना। नग्न रहने के कारण निगंठ श्रमणों को अचेलक भी कहते थे। बौद्धागमों में अनेक अचेलक श्रमणों का उल्लेख मिलता है। वैशालिकों में अचेल कोरमट्टक का बड़ा यश और मान था। उसने सात अभिग्रह (प्रण) ले रखे थे, इनमें एक अभिग्रह यह भी था कि वह वैशाली के पूर्व में उदयन चैत्य, दक्षिण में गोतमक चैत्य, पश्चिम में सप्ताम्रक चैत्य तथा उत्तर में ब्रह्मपुत्रक चैत्य से आगे न जायगा। अचेल कोरमट्टक अपने अलौकिक ऋद्धिबल के लिए प्रख्यात था।

निगंठ श्रमणों को पासवचिज्ज (पार्श्वापत्य अथवा पार्श्वनाथ की संतान) भी कहा जाता था। इसका कारण यह था कि वे अपने को पुरुषादानीय अर्हत पार्श्व की शिष्य-परंपरा में मानते थे, जिनका जन्म लगभग ३५० वर्ष पूर्व वाराणसी के राजकुल में हुआ था। उनके जीवनकाल की सभी मुख्य घटनाएँ विशाखा नक्षत्र में घटी थीं।[1] विशाखा नक्षत्र में उन्होंने जन्म लिया, इसी नक्षत्र में उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में मुंडित होकर अनगार श्रमण का जीवन आरंभ किया, इसी नक्षत्र में उन्होंने ८३ दिन की तपस्या के बाद (केवल) ज्ञान प्राप्त किया और इसी नक्षत्र में सौ वर्ष की आयु भोगकर मगध राज्य के गयशीश पर्वत क्षेत्र के निकटवर्ती सबसे ऊँचे पर्वत सम्मेदशिखर (संथाल परगना के निकट, जहाँ अत्यंत प्राचीन काल से लोहे की खानें विद्यमान होने के उल्लेख मिलते हैं) से निर्वाण प्राप्त किया।

उनके सात मुख्य शिष्य थे जो उनके गण (संघ) के नायक थे। इन गणधरों के नाम थे—शुभ, अज्जघोष (आर्यघोष), वसिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोम, श्रीधर, वीरभद्र तथा यश। इनके संघ में १६ हजार श्रमण तथा ३८ हजार श्रमणियाँ (आर्यिकाएँ) थीं। उनके श्रमणोपासकों की संख्या एक लाख चौंसठ हजार तथा श्रमणोपासिकाओं की संख्या तीन लाख सत्ताईस हजार थी।

---

१. पुरुषादानीय—पुरुषों में आदान (ग्रहण करने) के योग्य अथवा पुरुषोत्तम (कल्पसूत्र, पृ० २१२-२२६)।

बौद्धागमों से संकेत मिलता है कि लिच्छवियों के संघ में ७,७०७ क्षत्रिय कुल सम्मिलित थे। इन सभी कुलों के मुखिया राजा कहलाते थे। उनका मूर्धाभिषेक होता था और उनमें छोटे-बड़े का कोई भेद-भाव नहीं था। सभी अपने को बराबर मानते थे। उनके मूर्धाभिषेक के लिए वैशाली की जिस मंगल पुष्करिणी से जल लिया जाता था उस पर लोहे का जाल बिछा था और पंछी भी उसमें पर नहीं मार सकते थे। पुष्करिणी के बाहर और भीतर जबर्दस्त पहरा रहता था। लिच्छविगण के ऐश्वर्य की प्रतीक उस मंगल-पुष्करिणी का जल मूर्धाभिषिक्त लिच्छवि कुलों के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं ले सकता था।

लिच्छवियों में कोई वंशानुक्रम राजा नहीं होता था। उनके गण में सम्मिलित ७,७०७ मूर्धाभिषिक्त राजाओं में से कोई राजा गण का प्रधान चुन लिया जाता था जो गणराजा कहलाता था। उसकी सहायता के लिए उपराजा, सेनापति, भांडागारिक आदि राज्याधिकारी नियुक्त किये जाते थे। वह गणसभा की सहायता से राज्य के समस्त कार्यों का संपादन करता था। राज्य के समस्त निर्णय गणसभा में लिये जाते थे। गणसभा का अधिवेशन जिस सभाभवन में होता था उसे संथागार कहते थे। संथागार में सभी सदस्यों के बैठने के लिए आसन रखे जाते थे। संथागार के अधिवेशन के लिए न्यूनतम उपस्थिति की संख्या निर्धारित थी जिसे गणपूरक संख्या कहते थे। संथागार में निर्णय बहुमत से लिया जाता था। इसके लिए मतदान की व्यवस्था थी। मत के लिए छन्द शब्द का व्यवहार किया जाता था, जिसका अर्थ स्वतंत्र होता है। इससे इंगित होता है कि संथागार में एकत्र लिच्छवि राजाओं को मतदान की पूर्ण स्वतंत्रता थी। मतदान के लिए अलग-अलग रंग की शलाकाएँ बाँटी जाती थीं जो पक्ष अथवा विपक्ष के मत की सूचक होती थीं। इन शलाकाओं को गुप्त रीति से ग्रहण किया जाता था ताकि मतदान गुप्त रहे। संथागार की कार्यवाही को लिपिबद्ध करने के लिए लेखक नियुक्त रहते थे। राज्य में न्याय लिखित नियमों के अनुसार किया जाता था। जिस पुस्तक में दंड-व्यवस्था का विधान था उसे प्रवेणी पुस्तक कहते थे।

उस काल में लिच्छवियों की अभ्युन्नति के सात मूलभूत कारण माने जाते थे।[1] इनमें सर्वप्रमुख कारण यह था कि उनके गण अथवा संघ में सम्मिलित सभी कुलों में अभूतपूर्व एकता थी। अमुक गाँव या नगर की सीमा को लेकर विवाद उपस्थित हुआ है या चोर विद्रोह कर रहे हैं, यह सूचना नगाड़े की

---

१. महापरिनिब्बाण सुत्त (बुद्धचर्या, पृ० ४८५-८६)।

चोट पर मिलते ही सभी गणराजा संथागार में एकत्र हो जाते थे। संथागार का अधिवेशन आरंभ होने पर घड़ियाल बजाया जाता था। संथागार में एकत्र लिच्छवि गणराजा करणीय विषय पर समग्र रीति से विचार करते थे और फिर समग्र रूप से करणीय को करते थे। संथागार में केवल राजनीतिक तथा सैनिक विषयों पर ही नहीं, कृषि तथा व्यापार संबंधी विषयों पर भी विचार किया जाता था। संघ में सम्मिलित किसी गणराजा का कोई काम होता था तो अन्य सारे गणराजा उसकी सहायता करते थे। राज्य में यदि कोई सम्मानित अतिथि, जैसे अर्हत श्रमण आता था तो उसका स्वागत करने के लिए सभी गण-राजा उपस्थित होते थे।

लिच्छवि संघ में व्यापार की अभ्युन्नति का आधारभूत कारण यह था कि वे अपने राज्य में ऐसी कोई चुंगी या कर नहीं लेते थे जो पहले से नियत न हो। वे बनाये विधान को तोड़ते नहीं थे, सारा कार्य विधान के अनुसार करते थे। उनके राज्य में दंड मनमाने तरीके से नहीं दिया जाता था। कोई निर-पराधी दंडित न होने पाये, इसके लिए उनकी न्याय-व्यवस्था में समुचित साव-धानी बरती जाती थी। किसी अपराधी का अपराध प्रमाणित होने पर उसे प्रवेणी पुस्तक में अंकित दंड-व्यवस्था के अनुसार दंड दिया जाता था।

लिच्छवियों के संघ की अभ्युन्नति का अन्य कारण यह था कि वे अपने कुल-महत्तरों का सम्मान करते थे, उनकी सुनने योग्य बातों को सुनते थे और मानने योग्य सलाहों को मानते थे। वे कुल-कन्याओं तथा कुल-रमणियों का बलात् अपहरण करके उन्हें अपने अंतःपुर में नहीं डाल लेते थे। उनके नगर में तथा नगर के बाहर जितने चैत्य थे, उनकी रक्षा करते थे। उनके लिए पहले से किये गये दान या धर्मानुसार नियत बलि (वृत्ति) का लोप नहीं करते थे। वे अपने राज्य में आनेवाले अर्हत श्रमणों की पूरी तरह रक्षा करते थे, ताकि वे भविष्य में भी उनके राज्य में आयें और सुखपूर्वक विहार करें।

●

२

लिच्छवि संघ में जो ७,७०७ मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियकुल सम्मिलित थे, उनमें ज्ञातृकुल के क्षत्रिय भी थे जो अपना संबंध इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री कोशलिक (कोशलवासी) अर्हत ऋषभ[1] से जोड़ते थे। अर्हत ऋषभ के बारे में प्रसिद्ध था कि उन्होंने ही समाज में सर्वप्रथम दंडनीति की व्यवस्था की, राज्य-व्यवस्था का विकास किया, लोगों को कृषि कर्म तथा अन्य शिल्पों का परिज्ञान कराया। इसके बाद वही गृहवास त्याग कर प्रथम जटाजूटधारी अनगार श्रमण, प्रथम भिक्षु तथा प्रथम जिन, प्रथम तीर्थंकर बने, हठयोग का प्रचार किया[2] तथा अष्टादश पर्वत (कैलास पर्वत, हिमालय) पर सिद्धपद प्राप्त किया। वे किस काल में हुए, इसका लोगों को सही परिज्ञान नहीं था। यही विश्वास प्रचलित था कि उनका आविर्भाव असंख्यात वर्ष पूर्व हुआ। उनका आविर्भाव जिस काल में हुआ वह सभ्यता का आदिकाल था। उन्हीं के पुत्र भरत चक्रवर्ती हुए जिनके नाम पर जम्बूद्वीप का यह क्षेत्र भरतक्षेत्र कहलाया। वैशाली से राजगृह तथा चम्पा जानेवाले महापथ पर जो पहला सन्निवेश (सेना तथा सार्थों का पड़ाव-स्थान) कुंडग्राम पड़ता था, वहीं ज्ञातृकुल का मुख्य वास था। वैशाली गण की राजधानी होने के कारण इस कुल के लोग वैशालिक भी कहलाते थे।

कुंडग्राम के दो विभाग थे, उसके पश्चिम भाग में ज्ञातृकुलीन क्षत्रियों का वास था, जिससे वह क्षत्रियकुंड कहलाता था। ज्ञातृ क्षत्रियों का वास होने के कारण इसे संभवतः ज्ञातृग्राम, ज्ञातिक अथवा नादिका भी कहते थे। इस ग्राम के पूर्व भाग में वेद-वेदांगों में पारंगत, व्याकरण शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण शास्त्रों के पंडित, गणक तथा स्वप्नलक्षण-पाठक ब्राह्मण रहते थे, जिसके कारण वह भाग ब्राह्मणकुंड कहलाता था। गाँव के दोनों विभागों के बीच बहुशाल चैत्य स्थित था।

कुंडग्राम खाई, धूलकोट (मिट्टी के परकोटे), आरामों एवं वाटिकाओं से युक्त था। धन-धान्य तथा पशु-संपत्ति से समृद्ध था। उसके उन्नत गोपुर तथा पंक्तिबद्ध भवन पथिकों के मन को आकृष्ट करते थे। उसके शंख के समान श्वेत एवं शरद ऋतु

---

१. कल्पसूत्र, पृ० २४७-२७५।

२. श्री-आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।—हठयोग प्रदीपिका।

के मेघ के समान उन्नत भवनों के समूह से वहाँ का आकाश अत्यंत मनोरम प्रतीत होता था।[१]

ज्ञातृकुल के क्षत्रियों को समाज में अत्यंत आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। वे कभी पराभव को प्राप्त नहीं होते थे। उन्हें कहीं अपमानित, निराश या असफल नहीं होना पड़ता था। वे मनुष्य संबंधी सभी कामभोगों का भोगोपभोग करते हुए वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। वे चार घंटोंवाले अश्वरथ पर सवार होकर, सिर पर कोरंट पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण कर, भटों एवं सुभटों के समूह से परिवृत होकर अपने भवन से बाहर निकलते थे।

कुंडग्राम के क्षत्रिय सिद्धार्थ का लिच्छवि संघ में बड़ा यश और मान था। वैशाली के गणराजा चेटक की भगिनी त्रिशला क्षत्रियाणी उनकी भार्या थी। प्रिय एवं मधुर वचन बोलने तथा छोटे-बड़े सभी के साथ प्रिय व्यवहार करने के कारण त्रिशला का अपर नाम प्रियकारिणी पड़ गया था। विदेह की कन्या होने के कारण वह विदेहदिन्ना भी कहलाती थी। अपने स्नेहमय स्वभाव के कारण वह समस्त कुटुंबियों लिए के स्नेह-पयस्विनी थी।

कल्पसूत्र में क्षत्रिय सिद्धार्थ के दैनिक जीवनक्रम का विशद चित्रण मिलता है। प्रातःकाल उठने पर वे सर्वप्रथम व्यायामशाला में जाकर शस्त्राभ्यास करते थे। वे अश्व पर सवार होकर उसे कुदाते, गोलाकार घुमाते, दुलकी, सरपट आदि चालों से दौड़ाते, तीन पैरों पर खड़ा करते। वे मल्लों के साथ एक दूसरे की भुजाओं तथा अन्य अंगों को मरोड़ने, मल्ल-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, धनुष-बाण, असि, मुग्दर, त्रिशूल, गदा, कुंत आदि अस्त्रों को चलाने का अभ्यास करते थे। शरीर को नीरोग बनाये रखने के लिए नित्य प्रति पद्मासन आदि विविध आसनों को ग्रहण कर योगाभ्यास करते थे।

इन सब व्यायामों से परिश्रांत हो जाने के बाद वे अत्यंत गुणकारी, शरीर में रस-रुधिर की वृद्धि करनेवाले, क्षुधा को दीप्त तथा शरीर के बल एवं तेज को बढ़ानेवाले सुगंधित शतपाक तथा सहस्रपाक तेलों से मालिश कराते थे। उनके शरीर का मर्दन करनेवाले सेवक संपूर्ण उँगलियों से शरीर का मर्दन करने की कला में प्रवीण, बोलने में चतुर, शरीर के संकेतों को समझने में कुशल, बुद्धिमान् तथा परिश्रम से हार न माननेवाले थे। उनके अंग-मर्दन से शरीर की अस्थियों, मांस, त्वचा तथा रोमराजि को भारी सुख प्राप्त होता था और शरीर की सारी थकावट नष्ट हो जाती थी।

---

१. वर्धमानचरित, सर्ग १७, पद्य ७–१२ तथा हरिवंश पुराण २।५-११।

अंगमर्दन कराने के बाद वे व्यायामशाला से निकलकर मज्जनगृह (स्नानगृह) में जाते थे। वहाँ स्नानपीठ पर बैठकर सुगंधित जल से स्नान करते थे। स्नान कराने के बाद सेवक लोग रोयेंदार, मुलायम, सुगंधित रक्त वस्त्र से उनका शरीर पोंछते थे, फिर शरीर पर सुगंधित गोशीर्ष चंदन का लेप करते तथा केशर मिश्रित सुगंधित चूर्ण का छिड़काव करते थे। इसके बाद गले में अठारह, नौ, तीन तथा एक लड़ी का हार, कटि में कटिसूत्र, हाथों में रत्नजटित वीरवलय, भुजाओं में भुजबंध, अँगुलियों में अँगूठियाँ, कानों में कुंडल तथा मस्तक पर मुकुट धारण कराते थे। इस प्रकार अलंकृत तथा विभूषित हो, सिर पर छत्रधारकों द्वारा कोरंट पुष्पों की माला से युक्त छत्र धारण कर, श्वेत चामर डुलाते हुए चामरवाहकों तथा कौटुम्बिक पुरुषों और भट-सुभटों के समूह से परिवृत, जय-जयकार के मंगल निनाद के मध्य वे बाह्य उपस्थानशाला (राजसभा) में प्रवेश करते थे और पूर्व दिशाभिमुख होकर सिंहासन पर विराजमान हो जाते थे।

क्षत्रिय सिद्धार्थ का कुल पार्श्वापत्यीय श्रमणों का उपासक था। निर्ग्रंथ-प्रवचनों के प्रति प्रेम उनके कुल में अस्थि-मज्जा तक व्याप्त था। वे शील व्रतों का पालन करने में दृढ थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य अपने कृत कर्मों को स्वयं भोगता है, इसलिए वे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करते थे और देवों तक से सहायता की कामना नहीं करते थे।

आषाढ़ मास की बात है। शुक्ल पक्ष की षष्ठी थी। रात्रि का पिछला पहर आरंभ हो चुका था। आकाश में मंगल और विभूति का परिचायक हस्तोत्तरा नक्षत्र देदीप्यमान था। क्षत्रिय सिद्धार्थ अपने कक्ष में सोये हुए थे। क्षत्रियाणी त्रिशला भी अपने वासग्रह में सुखनिद्रा में निमग्न थीं। उनके वासगृह का आभ्यंतर भाग चित्रों से चित्रित तथा बाह्य भाग चूने से पुता हुआ था। वासगृह का तलभाग सम और मणिरत्नों से जटित था। उस पर पाँच वर्णों के सरस सुरभित सुमन यत्र-तत्र बिखरे थे। वासगृह अगर, कुंदरुक्क, लोभान तथा अन्य सुगंधित द्रव्यों के सौरभ से सुगंध-गुटिका की भाँति महक रहा था।

क्षत्रियाणी त्रिशला जिस शय्या पर सोयी थीं, उसके सिराहने तथा पायताने उपधान (तकिये) रखे हुए थे। शय्या दोनों ओर से उन्नत तथा मध्य में नीची थी। गंगा नदी की रेती, आक की रुई अथवा मृगचर्म के समान सुकोमल थी तथा स्वच्छ अलसी के वस्त्र से वेष्टित थी। उस पर रक्त वस्त्र की मच्छरदानी लगी हुई थी। शय्या के निकट सुगंधित पुष्प तथा सुगंधित चूर्ण बिखरा था।

क्षत्रियाणी त्रिशला अर्ध निद्रावस्था में थीं, तभी उन्होंने चौदह[१] उदार स्वप्न देखे। उन्होंने सर्वप्रथम चार दाँतवाला, शक्रेंद्र के ऐरावत के समान उन्नत तथा मेघ के समान गर्जना करनेवाला हाथी देखा। इसके बाद क्रमशः वृषभ, सिंह, कमलासन-स्थित लक्ष्मी, मंदार-माला, पूर्णचंद्र, देदीप्यमान सूर्य, सुवर्ण-यष्टि पर प्रतिष्ठित ध्वजा, चाँदी का पूर्ण कलश, पद्मसरोवर, क्षीरसागर, देवविमान, गगनमंडल तक को प्रभासमान करनेवाली रत्नराशि तथा निर्धूम अग्नि का दर्शन किया।

इन स्वप्नों का दर्शन कर क्षत्रियाणी त्रिशला का रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठा और उनकी निद्रा भंग हो गयी। वे पादपीठ पर पैर रखकर शय्या से उतरीं और अत्वरित अचंचल गति से पति के शयनकक्ष में पहुँचीं। स्वामी को मित-मधुर एवं मंजुल वचनों से जगाया और उन्हें रात्रि के पिछले भाग में देखे गये स्वप्नों का वृत्तांत सुनाया।

क्षत्रिय सिद्धार्थ ने प्रातःकाल शय्या से उठते ही कौटुम्बिक पुरुषों को अष्टांग महानिमित्त के पारगामी, विविध शास्त्रों में कुशल स्वप्नलक्षण-पाठकों को बुला लाने का आदेश दिया।

राजा की बुलाहट पर स्वप्नलक्षण-पाठकों ने स्नान करने के बाद कपाल पर काजल का तिलक लगाया, सरसों, दही, अक्षत, दूर्वादि से अनिष्ट निवारणार्थ माङ्गलिक कृत्य किये, राजसभा में जाने योग्य वस्त्र तथा अलंकार धारण किये, मस्तक पर मंगल हेतु श्वेत सरसों, अक्षत आदि लगाये और अपने-अपने घरों से निकलकर क्षत्रिय सिद्धार्थ के नंद्यावर्त प्रासाद के प्रधान प्रवेशद्वार पर एकत्र हुए। फिर सब एक साथ राजा की बाह्य उपस्थानशाला में पहुँचे और दोनों हाथ मस्तक पर अंजलिबद्ध करके 'जय हो, विजय हो' आदि आशीर्वचनों से उनका अभिनंदन किया।

उपस्थानशाला में स्वप्नलक्षण-पाठकों के लिए ईशान कोण में आठ भद्रासन रखवा दिये गये थे। उनसे न अति निकट और न अति दूर मणिरत्नों से मंडित, ईहामृग, वृषभ, अश्व, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, चमरी गाय, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि से चित्रित पारदर्शक पट्टसूत्र की बनी यवनिका लगा दी गयी थी। यवनिका के पीछे मणिरत्नों से जटित, श्वेत वस्त्र से आच्छादित, सुखकारी स्पर्शवाले भद्रासन पर क्षत्रियाणी त्रिशला आसीन थीं।

---

१. कल्पसूत्र पृ० ७९।

क्षत्रिय सिद्धार्थ ने हाथ में पुष्प-फल लेकर स्वप्नलक्षण-पाठकों को त्रिशला प्रियकारिणी द्वारा रात्रि के पश्चभाग में देखे गये चौदह स्वप्नों का वृत्तांत सुनाया और उनका फल पूछा।

स्वप्नलक्षण-पाठकों ने पहले उन स्वप्नों पर सामान्य विचार किया, फिर उनके अर्थ पर विशेष चिंतन किया, परस्पर विचार-विनिमय करके एक दूसरे का अभिप्राय ज्ञात किया, तदनंतर इन स्वप्नों के फल के संबंध में अपना मत निश्चित किया। जब सब एकमत हो गये तब उन्होंने स्वप्नशास्त्र के अनुसार उन स्वप्नों का फल बताते हुए कहा : देवानुप्रिय, क्षत्रियाणी त्रिशला ने जो चौदह स्वप्न देखे हैं वे मंगलकारी हैं और पुत्र का लाभ करनेवाले हैं। क्षत्रियाणी त्रिशला नव मास बाद कुल के यश का विस्तार करनेवाले, कांत, प्रियदर्शी, सौम्य, सर्वाङ्गसुंदर पुत्र को जन्म देंगी। वह या तो चतुर्दिक् भूमंडल का स्वामी चक्रवर्ती राजा होगा या फिर अनगार श्रमण होकर धर्मचक्र का प्रवर्तन करने-वाला धर्म-चक्रवर्ती बनेगा।

क्षत्रियाणी त्रिशला स्वप्नलक्षण-पाठकों की भविष्यवाणी सुनकर अत्यंत हर्षित एवं तुष्ट हुईं। वे यत्नपूर्वक अपने गर्भस्थ शिशु का पोषण करने लगीं। गर्भ के प्रभाव से जितने भी दोहद उत्पन्न हुए उन सबको क्षत्रिय सिद्धार्थ ने पूर्ण किया।

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को, अर्धरात्रि में जिस समय चंद्रमा का हस्तोत्तर नक्षत्र से योग हो रहा था तथा सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे, क्षत्रियाणी त्रिशला ने नव मास और साढ़े सात अहोरात्र गर्भ में रखने के बाद स्वस्थ एवं नीरोग पुत्र को जन्म दिया।[१]

प्रियंवदा दासी ने जब यह शुभ संवाद क्षत्रिय सिद्धार्थ को दिया तो उन्होंने हर्षोत्फुल्ल हो मुकुट को छोड़कर शरीर के समस्त आभूषण उसे पुरस्कार-स्वरूप प्रदान कर दिये और उसे शेष जीवन के लिए दासी-कर्म से मुक्त कर दिया।

क्षत्रिय सिद्धार्थ ने पुत्र-जन्म पर दस दिन तक भारी उत्सव मनाया। उन्होंने नगर-रक्षकों को बुलाकर समस्त बंदियों को मुक्त कर देने की आज्ञा दी। नगर में चुंगी का लेना तथा किसी भी स्थान पर दंड-स्वरूप चल संपत्ति की जब्ती कर लेनेवाले राजपुरुषों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। समस्त ऋ

---

१. वही, पृ० १२९।

माफ कर दिये। वणिकों को आज्ञा दी कि वे वस्तुओं की तोल-माप बढ़ा दें। इस प्रकार माल सस्ता बेचने से उन्हें जो हानि होगी उसकी पूर्ति राजकोष से की जायगी।

राजा के आदेश से कुंडग्राम के अंदर और बाहर के सभी राजमार्गों पर सुगंधित जल का छिड़काव किया गया। सारे पुर को लिपा-पुताकर स्वच्छ कर दिया गया। भवनों की भीतों पर गोशीर्ष, रक्त चंदन तथा मलय चंदन के पाँचों उँगलियों के थापे लगाये गये, घरों के अंदर चौक में चंदन-कलश स्थापित किये गये, द्वार-द्वार पर तोरण बाँधे गये तथा पृथ्वी को स्पर्श करती गोल मालाएँ लटकायी गयीं। स्थान-स्थान पर कुंदरुक्क, लोभान तथा धूप की सुगंध से सारा नगर गंध-गुटिका के समान महक उठा।

राजमार्गों पर दर्शकों के बैठने हेतु मंच बाँधे गये तथा स्थान-स्थान पर नट नाटकों द्वारा, नर्तक नृत्य द्वारा, विदूषक अपनी मसखरी के द्वारा, कथावाचक कथाओं के द्वारा, रास-गायक रास-गायन के द्वारा, मल्ल मल्लयुद्ध के द्वारा, रस्सी तथा लंबे बाँस पर खेल करनेवाले अपने खेल द्वारा तथा तूण एवं वीणा-वादक अपने वादन के द्वारा जन-रंजन करने लगे।

नवजात शिशु को तीसरे दिन चंद्र और सूर्य का दर्शन कराया गया। छठे दिन रात्रि-जागरण का उत्सव मनाया गया। ग्यारहवें दिन सब प्रकार की अशुचि का निवारण हो जाने पर बारहवें दिन उसका नामकरण संस्कार किया गया।

उस दिन क्षत्रिय सिद्धार्थ ने विपुल परिमाण में अशन, पान, खादिम और स्वादिम पदार्थ तैयार कराये। अपने मित्रों, ज्ञातिजनों, स्वजनों, संबंधियों तथा कुटुंबियों को आमंत्रित किया, उन्हें भोजन-मंडप में ले जाकर भोजन कराया, पुष्प, वस्त्र, सुगंधित मालाओं तथा आभूषणों से उनका सत्कार किया, इसके बाद घोषणा की : जब से हमारा यह पुत्र गर्भ में आया, हमारे कुल में हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, माणिक्य-मोती, शंख-शिला-प्रवाल आदि में अभिवृद्धि हो रही है। अतएव हमने कुमार का नाम वर्धमान रखने का विचार किया है।[1] सबने एक स्वर से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

ज्ञातपुत्र वर्धमान के बाल्यकाल के संबंध में अधिक जानकारी नहीं मिलती। इतनी ही सूचना प्राप्त है कि वे अत्यंत सुदर्शन थे। उनके शरीर के सारे अव-यव शरीरशास्त्र में वर्णित शलाकापुरुषों के अनुरूप थे। जब वे पर्यंकासन में बैठते थे तो दोनों घुटनों, पादमूल से ललाट, दाहिने कंधे से बायें घुटने तथा

१. वही, पृ० १४९।

बायें कंधे से दाहिने घुटने का अंतर समान होता था। उनके शरीर का हाड़ वज्र के समान कठोर था।

उनके पिता के तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। उनकी माता के भी तीन नाम थे—त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिणी। उनके पितृव्य का नाम सुपार्श्व, बड़े भाई का नन्दिवर्धन तथा बड़ी बहन का सुदर्शना था।[1]

उनकी देखभाल के लिए पाँच धायमाताएँ नियुक्त थीं। एक उन्हें दूध पिलाती थी, दूसरी स्नान कराती थी, तीसरी वस्त्रालंकारों से विभूषित करती थी, चौथी क्रीड़ा कराती थी तथा पाँचवीं गोद में खिलाती थी।[2]

इस प्रकार एक धायमाता से दूसरी धायमाता की गोद में खेलता हुआ वह ज्ञातपुत्र चंपक बेल की भाँति बढ़ने लगा। आठ वर्ष की अवस्था पूर्ण होने पर उसे विद्याध्ययन के लिए विद्यागुरु के पास ले जाया गया। बालक वर्धमान ने उस अवस्था में ही अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से सबको चकित कर दिया।[3]

शनैः-शनैः ज्ञातपुत्र वर्धमान ने युवावस्था में पदार्पण किया। किंतु वह ज्ञातपुत्र अन्य कुलपुत्रों से नितांत भिन्न स्वभाव का था। मनुष्य संबंधी सभी कामभोगों से घिरा रहने पर भी वह उनसे उदासीन रहता था। कुमार की यह उदासीनता देखकर माता-पिता चिंताकुल हुए। उन्हें स्वप्नलक्षण-पाठकों की भविष्यवाणी याद आयी और वे सोचने लगे कि कहीं हमारा कुमार गृहत्याग कर अनगार श्रमण न बन जाये। अतएव उन्होंने उसके पैरों में विवाह-बंधन की बेड़ियाँ बाँध देने का निश्चय किया।

उन्होंने अपनी पुत्रवधू के रूप में पड़ोसी सामंत समरवीर की षोडशी कन्या यशोदा को चुना।[4] मांसल पुष्ट देह, सुवर्णचंपक तुल्य वर्ण, शिरीष के समान मृदुल गात्र, विशाल नेत्र, पूर्णचंद्र के समान मुखमंडल, कोकिलकंठी, मृगनयनी यशोदा को देखते ही क्षत्रिय सिद्धार्थ और क्षत्रियाणी त्रिशला उसे अपनी पुत्रवधू बनाने के लिए लालायित हो उठे।

क्षत्रिय सिद्धार्थ ने पत्नी त्रिशला को सलाह दी कि वह पुत्र का अभिमत ज्ञात कर लें। माता त्रिशला ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर कुमार वर्धमान

---

१. वही, पृ० १४४-४६।

२. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन १५।

३. आवश्यक भाष्य, गा० ७६-७७।

४. वही, गा० ७६-७७।

से राजकुमारी यशोदा के अद्वितीय रूप-गुण की प्रशंसा की, उसे अपनी पुत्रवधू बनाने की उत्कट लालसा व्यक्त की और इस संबंध में उनका अभिमत जानना चाहा।

कुमार वर्धमान की अंतरात्मा विवाह-बंधन में बँधने को तैयार न थी, वे मौन रहे। माता ने पुनः स्नेह के साथ उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—कुमार, जल्दी बताओ, मैं इस विवाह-प्रस्ताव पर तुम्हारी सहमति चाहती हूँ। आज तक तुमने मेरी सभी इच्छाओं का आदर किया है, अतएव अब मुझे निराश मत करना।

कुमार वर्धमान ने भूमि की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए माँ को बताया कि वे गृहबंधन में न बँधकर अनगार श्रमण बनने की प्रतिज्ञा ले चुके हैं। अपने चारों ओर के समाज में फैली अनीति, विषमता और मूढ़ता को दूर करने के लिए वे उसका मार्गदर्शन करना चाहते हैं, जीवन के उच्च मूल्यों का स्वयं से शोध करके समाज में उनकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। साधना के जीवन में गृहस्थ जीवन बंधन रूप होता है, इसीलिए वे सभी परिग्रहों से अपने को मुक्त करके अनगार श्रमण का जीवन बिताना चाहते हैं।

किंतु माता-पिता के प्रेमपूर्ण आग्रह के आगे कुमार वर्धमान की एक न चली। कुमार जानते थे कि माता-पिता का उनके प्रति कितना असीम अनुराग है। कुमार जब गर्भ में थे तभी से स्नेह-पयस्विनी माता त्रिशला का उनके प्रति तीव्र ममत्व था। एक बार की बात है। गर्भ सात महीने का हो चुका था। एक दिन माता त्रिशला ने अनुभव किया कि उनके गर्भ ने हिलना-डुलना बंद कर दिया है। उनके मन में दुश्चिंता हुई—कहीं मेरा गर्भ हर तो नहीं लिया गया है या मर तो नहीं गया है या च्युत तो नहीं हो गया है। यह विचार आते ही वे खिन्नमन हो हथेली पर मुँह रखकर और भूमि की ओर दृष्टि केन्द्रित करके चिंता और शोक के सागर में डूबने-उतराने लगीं। इसके बाद फूट-फूटकर विलाप करने लगीं।

उनका करुण क्रंदन सुनकर नंद्यावर्त प्रासाद में राग-रंग, उल्लास और उत्सव के वातावरण के स्थान पर सर्वत्र शून्यता और उदासी छा गयी। क्षत्रिय सिद्धार्थ भी व्याकुल हो उठे। जब गर्भस्थ शिशु ने फिर से हिलना-डुलना आरंभ कर दिया तभी सबका शोक दूर हुआ।

इसीलिए कुमार वर्धमान ने संकल्प कर लिया था कि जब तक मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे, मैं मुंडित होकर अनगार श्रमण नहीं बनूँगा।[1]

---

१. कल्पसूत्र, पृ० १२५।

माता-पिता के हठ पर कुमार वर्धमान ने उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए विवाह-बंधन में बँधना स्वीकार कर लिया। कौंडिन्य-गोत्रीया भार्या यशोदा से उनके एक पुत्री भी हुई जिसका नाम अणोज्जा अथवा प्रियदर्शना रखा गया।[1] किंतु गृहस्थ जीवन में भी कुमार वर्धमान ने भोगोपभोगों से अपने को पूर्ण तटस्थ रखा।

अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में उनके माता-पिता का देहावसान हो गया। क्षत्रिय सिद्धार्थ और क्षत्रियाणी त्रिशला ने मृत्यु पर्यंत श्रमणोपासक का शील-युक्त जीवन व्यतीत किया। जब तक शरीर में बल, कर्म करने की शक्ति, उत्साह तथा पराक्रम का भाव रहा तब तक उन्होंने उसका संरक्षण किया। परंतु जब शरीर भार-स्वरूप हो गया, जब यह स्पष्ट हो गया कि अब शरीर संरक्षण संभव नहीं है, तब उन्होंने उसका सारा ममत्व त्याग दिया। उन्होंने पूर्ण तटस्थ व अनासक्त भाव ग्रहण कर लिया और कुश बिछाकर, आहार त्याग कर, जीवनकाल में किये गये अपने दोषों की आलोचना और निंदा करते हुए तथा कृत दोषों के लिए प्रायश्चित्त करते हुए पंडितमरण की विधि से शरीर-त्याग किया।[2]

माता-पिता के देहावसान ने ज्ञातपुत्र वर्धमान के निकट सांसारिक सुखों की क्षणभंगुरता एक बार फिर स्पष्ट कर दी। उन्होंने सभी ज्ञातिजनों, स्वजनों तथा संबंधियों को प्रबोधन दिया, उन्हें समझाया कि सभी जीव जब तक भव-बंधन में बँधे रहते हैं, तब तक माता, पिता, भगिनी, भार्या, पुत्र आदि के रूप में बार-बार जन्म लेते रहते हैं। सबको अपने कृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है। सांसारिक विषयों के भोग का अभिलाषी व्यक्ति प्रमाद में वास करता है। वह राग-द्वेष, मोह आदि से ग्रस्त रहता है—यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बहिन है, यह मेरी भार्या है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री है, यह मेरी पुत्रवधू है यह मेरे सखा, स्वजन, सनेही, संगी-साथी हैं, यह मेरे उपकरण हैं, यह हाथी-घोड़े आदि वाहन, यह विपुल खाद्य सामग्री, यह वस्त्र-भूषणादि सब मेरे हैं। इन पदार्थों में आसक्त पुरुष हर समय अपने स्वार्थ को पूरा करने में लगा रहता है। वह धन के लोभ में, दूसरों का गला काटने में, दुष्कर्म तथा अविचारपूर्ण कार्य करने में संकोच नहीं करता। प्रमादवश अनेक प्राणियों को परिताप (कष्ट) देता है, अनेक पाप कर्मों में प्रवृत्त

---

१. वही, पृ० १४५।
२. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन १५।

होता है। किंतु मृत्यु की घड़ी में कोई आत्मीय जन, कोई संबंधी, उसकी रक्षा करने, उसे शरण देने में समर्थ नहीं होता है। अतएव पंडित व्यक्ति वही माना जाता है जो प्रमाद त्याग कर भव-बंधन से छुटकारा पाने का प्रयास करता है।

ज्ञातपुत्र वर्धमान अनगार श्रमण बनने की अपनी प्रतिज्ञा एक क्षण के लिए भूले नहीं थे। वे जानते थे कि आयु निरंतर ढलती जाती है, बीता हुआ क्षण लौटकर वापस नहीं आता। इसलिए संयम-साधना में अब मुहूर्त्त मात्र का प्रमाद करना उचित नहीं होगा। उन्होंने बड़े भाई नन्दिवर्धन के पास जाकर उन्हें अपनी मनोभावना से अवगत कराया और अनगार श्रमण बनने के लिए प्रव्रज्या (गृहत्याग) की अनुज्ञा माँगी।

बड़े भाई ने कहा : कुमार, अभी माता-पिता के वियोग के दुःख से हम सब शोकसंतप्त हैं। ऐसे समय हम आपका वियोग कैसे सहन कर सकेंगे। इस समय आपका गृहत्याग का प्रस्ताव जले पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः जब तक हम सब स्वस्थचित्त न हो जायें तब तक आप कुछ काल और गृहवास करिये।

कुमार वर्धमान ने स्थिर भाव से पूछा—आप और कितने दिनों तक मुझसे गृहवास कराना चाहते हैं।

नन्दिवर्धन ने उत्तर दिया—दो वर्ष तक।[१]

कुमार वर्धमान ने बड़े भाई की इच्छा शिरोधार्य कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने गृहवास के शेष दो वर्ष श्रामण्य (तपस्वी) जीवन की तैयारी में बिताये। उन्होंने गृहवास करते हुए भी श्रमणों की भाँति ब्रह्मचर्य वास और भूमि-शयन आरंभ कर दिया, शरीर की सेवा-शुश्रूषा करना, शरीर को विभूषित करना त्याग दिया और अपनी चित्तवृत्ति को सांसारिक भोगोपभोगों की कामना से हटाकर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए स्वाध्याय, मनन-चिंतन, आसन-ध्यान में अपना अधिकांश समय बिताना आरंभ कर दिया।[२]

गृहवास के अंतिम वर्ष में उन्होंने परिग्रहों के त्याग के लिए अपनी समस्त संपत्ति का दान करना आरम्भ कर दिया। प्राचीन जनश्रुतियों के अनुसार उन्होंने एक वर्ष में ३ अरब ८८ करोड़ ८० लाख का दान किया।

तीस वर्ष की अवस्था में ज्ञातपुत्र वर्धमान ने समस्त हिरण्य-सुवर्ण, कोष-

---

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २४९।

२. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन १५।

कोष्ठागार, राज्य-राष्ट्र, बल-वाहन, पुर-नगर त्याग कर प्रव्रज्या ले ली। कल्प-सूत्र में उनके अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) का विशद चित्र मिलता है।

उस समय हेमंत ऋतु का प्रथम मास तथा प्रथम पक्ष अर्थात् मार्गशीर्ष का कृष्ण पक्ष था। दशमी की तिथि थी। सूर्य की छाया पूर्व की दिशा में ढल रही थी, अर्थात् तीसरा पहर चल रहा था।

ज्ञातपुत्र वर्धमान ने अभिनिष्क्रमण की तैयारी में दो दिन का निर्जल उप-वास कर रखा था। वह ज्ञातृपुत्र पचास धनुष लंबी, पच्चीस धनुष चौड़ी, छत्तीस धनुष ऊँची, ईहामृग, वृषभ, अश्व, शार्दूल, सिंह आदि से चित्रित, विद्याधर, मिथुन युगल की लीलामय पुत्तलिकाओं से युक्त, लटकती हुई मोतियों की मालाओं से भूषित, घंटियों, ध्वजाओं तथा पताकाओं से शोभित चंद्रप्रभा नाम की सहस्रवाहिनी शिविका पर आरूढ होकर, सहस्रों नेत्रों से देखा जाता हुआ, सहस्रों उँगलियों से दिखलाया जाता हुआ, सहस्रों मुखों से प्रशंसा किया जाता हुआ, दाहिने हाथ से सहस्रों नर-नारियों का अभिनंदन स्वीकार करता हुआ, सहस्रों भवनों की पंक्तियों को पार करता हुआ, हाथी, घोड़े, रथ, पालकी आदि वाहनों, समस्त सेना, समस्त प्रजा, समस्त अंतःपुर, समस्त ज्ञातिकों, स्वजनों तथा संबंधी जनों से परिवृत, मधुर जयनाद तथा एक साथ बजते हुए शंख, पटह, भेरी, झल्लरी, खरमुखी, हुडुक्क, दुंदुभि आदि वाद्यों के निनाद के साथ कुंडग्राम के मध्य से होकर ग्राम के बाहर स्थित ज्ञातृकुल के उद्यान ज्ञातृ-वनखंड में पहुँचा।[1]

वहाँ पहुँचकर सहस्रवाहिनी शिविका एक अशोक वृक्ष के नीचे उतार दी गयी। ज्ञातपुत्र वर्धमान स्थिर कदमों से शिविका से उतरे। चारों ओर का वातावरण निस्तब्ध हो गया। सभी लोग भीत पर लिखे चित्र की भाँति साँस रोककर खड़े हो गये। कुमार वर्धमान ने भाई नन्दिवर्धन की अनुज्ञा लेकर अपने शरीर से हार, अर्ध हार, एकावली हार, कटिसूत्र, मुकुट आदि समस्त आभूषण अपने हाथ से उतारने आरंभ कर दिये। इसके बाद अश्व के मुँह से निकलनेवाली लार के समान चिकने, कुशल शिल्पियों द्वारा सुवर्ण के तारों से खचित, हंस के समान श्वेतवर्ण वाले बहुमूल्य वस्त्र भी उतार फेंके। समस्त परिग्रहों से अपने को मुक्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने अपने शरीर पर ममत्व भाव का त्याग प्रदर्शित करने के लिए दाहिनी मुष्टि से दाहिनी ओर के तथा बायीं मुष्टि से बायीं ओर के तथा एक मुष्टि से दाढ़ी के बालों का पाँच मुष्टि केशलोच

---

१. कल्पसूत्र, पृ० १५१-५२।

किया। इस प्रकार मुंडित होने के बाद उन्होंने समस्त सिद्धों को नमस्कार किया और समस्त जीवों के प्रति समता भाव रखने तथा समस्त पापकर्मों का त्याग करने का व्रत अंगीकार करते हुए यावज्जीवन के लिए प्रतिज्ञा की कि वे किसी भी जीव को परिताप नहीं देंगे, सबके प्रति एकत्व भाव रखेंगे, वे न तो स्वयं प्राणातिपात (प्राणि-वध) करेंगे, न दूसरों से करायेंगे और न करनेवालों का अनुमोदन करेंगे।

वे क्रोध, लोभ, भय अथवा हास्य से मिथ्या और सदोष वचनों का न स्वयं प्रयोग करेंगे, न दूसरों को करने की प्रेरणा देंगे और न करनेवालों का अनुमोदन करेंगे।

वे कोई भी अदत्त (न दी हुई) वस्तु—चाहे वह स्वल्प हो और चाहे प्रभूत, चाहे ग्राम में हो और चाहे नगर या अरण्य में, न स्वयं ग्रहण करेंगे, न दूसरों को ग्रहण करने की प्रेरणा देंगे और न इस रीति से ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन करेंगे।

वे किसी भी प्रकार से मैथुन का सेवन न स्वयं करेंगे, न दूसरों को करने की प्रेरणा देंगे और न करनेवालों का अनुमोदन करेंगे।

वे किसी भी प्रकार का परिग्रह, चाहे अल्प हो या बहुल, चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, न स्वयं करेंगे, न दूसरों से करायेंगे और न करनेवालों का अनुमोदन करेंगे।[१]

हमें उस काल के इतिहास में इस रीति से भरी तरुणाई में समस्त सांसारिक सुखोपभोगों को त्याग कर एक राजपुत्र के द्वारा अनगार श्रमण की दीक्षा ले लेने का एक दृष्टांत और मिलता है—वह है शाक्य कुल से प्रव्रजित, शाक्यपुत्र गौतम का। परंतु शाक्यपुत्र गौतम के अभिनिष्क्रमण और ज्ञातपुत्र वर्धमान के अभिनिष्क्रमण में एक अंतर दिखाई पड़ता है। शाक्यपुत्र गौतम आधी रात के समय, राहुलमाता और एक सप्ताह के राहुलकुमार को सोता छोड़कर, चुपके से कंथक घोड़े पर सवार होकर, चोरी से नगरद्वार के बाहर निकल गये। किंतु ज्ञातपुत्र वर्धमान ने लुक-छिपकर नहीं, डंके की चोट पर, कुलवृद्धों की अनुमति से अभिनिष्क्रमण किया। उनके कुल के सभी लोग जानते थे कि कुमार जीवन से पलायन नहीं कर रहे हैं, बल्कि जीवन के उच्च मूल्यों का अनुसंधान करने के लिए संयम-साधना का मार्ग ग्रहण कर रहे हैं।

---

१. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन १५।

गणराजा नंदिवर्धन तथा अन्य कुटुंबी, संबंधी व ज्ञाति जन जब तक कुमार वर्धमान दिखाई पड़ते रहे तब तक अपलक दृष्टि से उसी दिशा में निहारते रहे। इसके बाद वे जब आँखों से ओझल हो गये तब सभी साश्रुनयन अपने-अपने घर वापस लौट गये। गणराजा नंदिवर्धन, भाभी ज्येष्ठा तथा पत्नी यशोदा तथा अन्य कुटुंबी जनों के लिए कुमार वर्धमान के अभाव में अब सारा नंद्यावर्त प्रासाद ही वन के समान हो गया था। जब तक कुमार वर्धमान गृहवास करते रहे, वहाँ नित्य गोष्ठी लगती थी और सभी उनके सान्निध्य में गोष्ठी-सुख प्राप्त करते थे। अब आँखों में अमृत के अंजन के समान प्रिय उनका दर्शन दुर्लभ हो गया था। यशोदा अपने भवन में अकेली बैठी सोचती थी : स्वामी ने तो वैराग्य धारण कर लिया। क्या वे अब हम लोगों का कभी स्मरण तक करेंगे ?

●

३

ज्ञातपुत्र वर्धमान ने अपने अनगार जीवन की यात्रा जिस परिवेश में आरंभ की उसके संबंध में आगम ग्रंथों में प्रचुर सामग्री मिलती है। उस काल में स्वतंत्रचेता व्यक्तियों द्वारा जीवन के उच्चतर मूल्यों के अनुसंधान के लिए गृहवास त्याग कर अनगार परिव्राजक श्रमण या तापस बन जाना कोई अनहोनी बात नहीं थी। इन साधुओं के अनेक वेश होते थे। इस बाह्य साधु-वेश को लिंग कहा जाता था। यह एक प्रकार से उनकी पहचान होती थी। कोई साधु मृगचर्म अथवा वल्कल वस्त्र धारण करता था तो कुछ श्मशानों में फेंक दिये गये जीर्ण-शीर्ण वस्त्र का प्रयोग करते थे। अनेक साधु परमहंस मुद्रा में नग्न रहते थे।

तापसों को जटाधारी होने के कारण जटिलक भी कहते थे। उनमें नख-केश-कर्तन वर्जित था। वे पंचाग्नि तपते थे और शीतकाल में भीगे वस्त्र पहनकर तप करते थे। अनेक तापस वृक्ष-मूल में निवास करते थे, कुछ जल में निमग्न होकर बैठे रहते थे और कुछ बिलों में निवास करते थे। कोई फलाहारी होता था, कोई कंदाहारी और कोई मूलाहारी। हस्तितापस प्राणातिपात के पाप से बचने के लिए वर्ष में एक बार हाथी को मारकर उसी से बहुत काल तक जीवन-निर्वाह करते थे। कुछ शंख बजाकर भोजन करते थे। कुछ दंड को ऊपर उठाकर चलते थे। कुछ एकदंडी होते थे, कुछ त्रिदंडी। गंगा की मिट्टी लगाकर बार-बार स्नान करने के कारण अनेक तापसों का शरीर पीला दिखाई पड़ने लगता था।

परिव्राजक मुंडित-सिर होते थे। उनमें वैदिक परंपरा के अनुयायी ब्राह्मण परिव्राजक और श्रमण परंपरा के अनुयायी क्षत्रिय परिव्राजक दोनों मिलते थे। प्रव्रजित परिव्राजकों में अनेक सांख्य मत के अनुयायी थे और अनेक योग मत के। कुछ कपिल को माननेवाले थे तो कुछ भृगु ऋषि के अनुयायी थे। चरक परिव्राजक कपिलमुनि के पुत्र कहे जाते थे। जो परिव्राजक नारायण के भक्त होते थे वे कृष्ण परिव्राजक कहे जाते थे। परमहंस परिव्राजक नदीतट अथवा नदियों के संगम पर वास करते थे। वे चीर, कौपीन और कुश को त्याग कर प्राणत्याग करते थे। हंस परिव्राजक पर्वत, गुहा, पथ, आश्रम, देवकुल अथवा आराम में निवास करते थे और यूथबद्ध होकर गाँवों में भिक्षा माँगने जाते थे।

अनेकानेक परिव्राजकों का नियम था कि वे गाँव में एक रात या नगर में पाँच रात से अधिक नहीं रुकते थे। कुछ परिव्राजक कुटीव्रती होते थे। वे कुटी में निवास करके क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि पर विजय प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करते थे।[1]

गेरुए वस्त्र धारण करने के कारण परिव्राजकों को गैरिक भी कहते थे। वे आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र की जटिल गुत्थियों पर विवाद करने के लिए दूर-दूर तक पर्यटन करते थे। श्रावस्ती में कोशलेश्वर-महिषी मल्लिका के आराम तिन्दुकाचीर में एकशालक भवन में भिन्न-भिन्न मतों पर वाद हुआ करता था जिससे वह स्थान समयप्रवादक के नाम से विख्यात था।[2] राजगृह में एक परिव्राजकाराम था जहाँ बहुत से मोर निवास करते थे। वहाँ भी श्रमणों और ब्राह्मणों की नाना दृष्टियों पर वाद-विवाद होता रहता था।[3]

इन वादों में वादी और प्रतिवादी बाल की खाल निकालनेवाली अपनी बुद्धि से एक दूसरे के मत को छिन्न करने का प्रयास करते थे। वाद करने के सुनिश्चित नियम थे। जिस प्रश्न पर वाद रोपना होता था उसे तीन वार दुहराकर स्थापित किया जाता था। यदि तीन वार प्रश्न करने पर भी प्रतिवादी उत्तर नहीं दे पाता था तो वह परास्त माना जाता था।

वादी ऐसे-ऐसे प्रश्न करता था कि प्रतिवादी की स्थिति उस व्यक्ति के समान हो जाय जिसके कंठ में लोहे की वंशी लगी हो और उसे वह न उगल सकता हो और न निगल सकता हो। वादी का प्रयास होता था कि जैसे बलवान् पुरुष दीर्घ लोमोंवाली भेड़ को लोम से पकड़कर निकाले, घुमाये और फिराये, उसी प्रकार वह भी अपने तर्कों के बल से प्रतिपक्षी को निकाले, घुमाये और फिराये, उसे इस प्रकार कंपित-प्रकंपित कर दे कि उसकी काँख से पसीना छूटने लगे और उसकी स्थिति उस केकड़े के समान कर दे जिसे गाँव के बालक पुष्करिणी से निकालकर जमीन पर डाल देते हैं और इसके बाद वह अपने जिस-जिस आरे को निकालता है उसे काठ या कठली से मार-मारकर इस प्रकार भग्न कर देते हैं कि वह केकड़ा फिर पुष्करिणी में उतरने के अयोग्य हो जाता है।[4]

---

१. औपपातिक सूत्र (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग दो, पृ० २०-२५)।
२. पोट्ठपाद-सुत्त, १।९ (दीघनिकाय)।
३. महासुकुलदायि-सुत्त (मज्झिमनिकाय)।
४. चूल-सच्चक सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय)।

वादी और प्रतिवादी दोनों एक दूसरे को मुखरूपी शस्त्रों से छेदने का प्रयास करते थे। वे एक दूसरे से कहते थे—तुमने इस मत को ठीक से नहीं समझा है, मैंने इसे ठीक-ठीक समझा है। मैं धर्मानुकूल कहता हूँ, तुम धर्मविरुद्ध कहते हो। तुमने जो बात पहले कहनी चाहिए थी वह पीछे कही और जो बात पीछे कहनी चाहिए थी वह पहले कही। तुम्हारी बात कट गयी। तुम पकड़ में आ गये। इस आपत्ति से छूटने की कोशिश कर सकते हो तो करो। यदि इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हो तो दो।[१]

उस काल में अनेकानेक परिव्राजिकाएँ भी स्थान-स्थान पर घूमती दिखाई देती थीं। वे विद्या, मंत्र और जड़ी-बूटी देतीं और जंतर-मंतर करती थीं।

कुछ प्रव्रजित परिव्राजक छोटा-सा बैल साथ में रखते थे जिसके गले में कौड़ी, माला आदि बँधी रहती थीं। वह लोगों के पाँव पड़ने में शिक्षित होता था। वे इसी बैल को लेकर भिक्षाचर्या करते थे।

कुछ परिव्राजक गोव्रतिक होते थे। जब गाय गाँव से बाहर जाती तो वे भी उसी के साथ-साथ चलते, जब वह चरती तो वे भी कंद-मूल-फलादि ग्रहण करते, जब वह सोती तब वे भी सोते थे।

कुछ परिव्राजक गृहस्थ होते थे और देव, अतिथि का सत्कार, दान आदि गृहस्थ धर्मों का पालन करते थे। कुछ धर्मशास्त्रों पर चिंतन करते थे। अनेक वृद्धावस्था में प्रव्रज्या ग्रहण करनेवाले होते थे। वे सरसों के तेल को छोड़कर नौ रसों—दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, मधु, मद्य और मांस का सेवन नहीं करते थे।[२]

परिव्राजक श्रमणों में आजीवक श्रमण निमित्त शास्त्र के पंडित होते थे। वे उग्र तप करते थे और घृतादि रसों के त्यागी और जिह्वेन्द्रिय पर अंकुश रखनेवाले होते थे। जीव-हिंसा से विरत रहते थे। कभी दो घर छोड़कर, कभी तीन घर छोड़कर और कभी सात घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करने का अभिग्रह (प्रण) ले लेते थे। कभी प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करते थे। कुछ आजीवक श्रमण बिजली गिरने पर उस दिन भिक्षा नहीं ग्रहण करते थे। कुछ मिट्टी के मटके में प्रविष्ट होकर तप करते थे।[3]

---

१. सामगाम सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय)।

२. औपपातिक, सूत्र ३८ (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग दो)।

३. वही, पृ० ३१।

पार्श्वापत्य श्रमणों में जिनकल्पी भी होते थे और स्थविरकल्पी भी। जिनकल्पी गच्छ का परित्याग कर एकलविहारी होते थे। वे वस्त्र तक का परिग्रह नहीं करते थे और पाणिपात्रभोजी (हथेली पर भोजन करने वाले) होते थे। स्थविरकल्पी गच्छ में रहते थे और फलकधारी अथवा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रधारी होते थे। वे एक, दो या तीन वस्त्र तक रखते थे और पात्र भी रखते थे। वे अपने हाथ से केशलोच करते थे और सभी प्रकार की बाह्य तथा आभ्यंतर ग्रंथियों से रहित होने के कारण निगंठ (निर्ग्रंथ) कहलाते थे। वे प्राणातिपात, मृषा (मिथ्या भाषण), अदत्तादान तथा परिग्रह से विरत रहने का उपदेश देते थे।[१]

उस काल के पार्श्वापत्य श्रमणों में साध्वियाँ भी होती थीं। मल्ल देश में विजया तथा प्रगल्भा नाम की दो श्रमणियों के विचरण करने का उल्लेख मिलता है जो ज्ञातपुत्र वर्धमान से भली भाँति परिचित थीं।[२] वैशाली के निगंठ सच्चक की चार बहिनें थीं—सच्चा, लोला, अववादका और पाटाचारा। वे सभी वाद करने में अत्यंत कुशल थीं। वे झंडे की तरह जामुन की डाल लिये हुए गाँव-गाँव घूमती थीं और जहाँ पहुँचतीं वहाँ चौराहे पर डाल को गाड़कर सब को खुली चुनौती देतीं—जो कोई उनसे शास्त्रार्थ करना चाहे वह इस डाल को उखाड़कर फेंक दे।[3]

उस काल में अनेक पार्श्वापत्य श्रमणों के शिथिलाचारी होकर गृहस्थ बन जाने का उल्लेख मिलता है। वज्जीसंघ के अस्थिक ग्राम में उत्पल नामक नैमित्तिक रहता था। पहले वह पार्श्वापत्य साधु था, फिर गृहस्थ होकर निमित्त शास्त्र से अपनी आजीविका चलाने लगा था। उसकी बहिनें सोमा और जयंती परिव्राजिकाएँ थीं। उत्पल और उसकी दोनों बहिनें ज्ञातपुत्र वर्धमान से भली भाँति परिचित थीं।[४]

कुछ शिथिलाचारी पार्श्वापत्य श्रमण तंत्र-मंत्र, वशीकरण आदि का प्रयोग करते थे, सिर पर विभूति आदि डालते थे और अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए निमित्त शास्त्र का प्रयोग करते थे। वे बहुक्रोधी, बहुमानी, बहुकपटी, बहुलोभी और नट की भाँति विविध प्रकार के आचरण करनेवाले होते थे।[५]

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पाँचवाँ खंड, पहला अध्याय।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २९१-९२।

३. चुल्लकलिंग जातक (जातक, तृतीय खंड)।

४. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २७३-७५ तथा पृ० २८६-८७)।

५. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ४४)।

कुछ शिथिलाचारी पार्श्वापत्य श्रमण यहाँ तक कहते थे कि जैसे फोड़े को दबाकर साफ कर देने से शांति मिलती है, वैसे स्त्री के साथ संभोग करने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार भेड़ा घुटने झुकाकर पानी को गंदा किये बिना स्थिरतापूर्वक पी लेता है, उसी प्रकार राग रहित चित्तवाला यदि अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री को भोग लेता है तो उसे कोई दोष नहीं लगता।[1]

इन परिव्राजकों, श्रमणों और तापसों में नाना प्रकार की दृष्टियाँ प्रचलित थीं। कुछ मानते थे कि लोक है, कुछ मानते थे कि लोक नहीं है। कुछ लोक को अध्रुव, कुछ सांत, कुछ अनंत, कुछ सादि तो कुछ अनादि मानते थे। कुछ मानते थे कि परलोक है, कुछ मानते थे कि परलोक नहीं है। कुछ स्वर्ग और नरक का अस्तित्व मानते थे, कुछ नहीं मानते थे। इसी प्रकार कर्म, बंध, मोक्ष, सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) के संबंध में भी नाना दृष्टियाँ थीं।

कुछ जगत् को देवकृत मानते थे, कुछ ब्रह्मकृत, कुछ ईश्वरकृत और कुछ उसे स्वयंभू मानते थे। कुछ जगत् को स्वप्नवत् मानते थे। कुछ आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व मानते थे और कुछ कहते थे कि जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वस्तु में मादकता न रहने पर भी उनके समुदाय में मादकता उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पंच भूतों के मिलन से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है और पंच भूतों के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है।

कुछ आत्मा को मूर्त मानते थे, कुछ अमूर्त, कुछ उसे कर्त्ता मानते थे, कुछ अकर्त्ता। कुछ उसे श्यामाक (साँवा), तंदुल अथवा अंगुष्ठ-प्रमाण कहते थे। कुछ आत्मा के विषय में विवाद ही नहीं करते थे और सत्य को अज्ञेय मानते थे। कुछ सत्य के विषय में संशययुक्त वाणी का प्रयोग करते थे।[2]

इन्हीं नाना दृष्टियोंवाले जटाधारी तापसों, मुंडित परिव्राजकों तथा श्रमणों के विशाल समूह में ज्ञातपुत्र वर्धमान भी अनगार श्रमण बनकर सम्मिलित हो गये। परंतु वे उनकी भीड़ में खो नहीं गये। धीरे-धीरे अपनी तपस्या के बल पर उन्होंने उनके बीच लोकपूज्य स्थान बना लिया और निगंठ श्रमणों के एकछत्र नेता बन गये।

किंतु इस युगप्रधान पद तक पहुँचने के लिए श्रमण ज्ञातपुत्र ने एक दो वर्ष की नहीं, पूरे १२ वर्ष ६ महीने १५ दिन की संयम-साधना की। ईस पूरे काल में उन्होंने एक क्षण के लिए प्रमाद नहीं किया और अभूतपूर्व पुरुषार्थ और पराक्रम का परिचय दिया। इसी आधार पर उन्हें महावीर कहा जाने लगा।

---

१. सूत्रकृतांग (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १४४)।

२. वही, पृ० १३८।

उन्होंने अपने को काँसे के पात्र की तरह सभी सांसारिक वासनाओं से निर्लेप, कूर्म की तरह अपनी इंद्रियों को समेटकर रखनेवाला, गगन की तरह आलंबन रहित, भारंड पक्षी की भाँति एकाकी, सागर की भाँति गंभीर, चंद्रमा के समान सौम्य, प्रतिज्ञाओं के पालन में मंदर पर्वत की भाँति अचल, अग्नि में तपे सोने की भाँति निर्मल तथा हुताशन की भाँति तेजस्वी बना लिया।[1]

उन्होंने अपने को इस सीमा तक निर्लोभ बना लिया कि चाहे तृण हो और चाहे सुवर्ण, दोनों में उनके लिए कोई अंतर नहीं रह गया। सुखानुभूतियाँ उन्हें हर्षित नहीं करती थीं और दुःखानुभूतियाँ शोकसंतप्त नहीं करती थीं। उन्होंने राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि के कटु फल को जानकर उनका पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया था। सबके प्रति सहज दया तथा अनुकंपा का भाव रखते थे। अपने प्रति दोष करनेवालों को भी उदारतापूर्वक क्षमा कर देते थे।

उन्होंने अपने शरीर पर ममत्व इस सीमा तक त्याग दिया कि उनके लिए वसूले का परुष तथा चंदन का शीतल स्पर्श समान हो गया था। सिर और दाढ़ी के बाल बढ़ने पर अस्तुरे अथवा कैंची से न कटवाकर अपने हाथों से ही केशों का लोच कर डालते थे। शरीर की अवस्थिति को इस सीमा तक विस्मृत कर दिया कि आँखों में रज पड़ने पर हाथ उसे निकालने अथवा शरीर में खाज आने पर खुजलाने के लिए आगे नहीं बढ़ते थे। रोगों का स्पर्श होने पर किसी प्रकार की चिकित्सा की कामना नहीं करते थे। शरीर को अशुचिमय जानकर स्नान अथवा दंतधावन तक नहीं करते थे।

वे कभी किसी अदत्त वस्तु को ग्रहण नहीं करते थे। रात्रि में किसी स्थान पर वसति लेने के लिए उस स्थान के स्वामी की अनुमति लेकर ही वहाँ ठहरते थे और वह जितने समय के लिए अनुमति देता था उतने ही समय ठहरते थे। आसन तथा संस्तारक (बिछौने) के लिए पीठ (चौकी), फलक (लकड़ी का पाटा) अथवा तृण आदि भी दाता से पूछे बिना उपयोग में नहीं लाते थे और उतने ही समय उपयोग में लाते थे जितने के लिए वह अनुमति देता था।

वे प्रायः गाँव के बाहर शून्य गृहों (परित्यक्त गृहों या खंडहरों), आगंतागारों, आरामागारों, यक्षायतनों अथवा देवालयों में अथवा गाँव के भीतर सभा, प्रपा (प्याऊ) या पण्यशाला (दूकान लगाने के स्थान) में अथवा पशुओं के लिए एकत्र किये गये पलालपुंज पर ही वसति ग्रहण कर लेते थे। कभी कर्मारों (लोहारों) की कर्मारशालाओं, तंतुवाय (बुनकरों) की तंतुवायशालाओं, बढ़ई की

१. कल्पसूत्र, पृ० १८४ क व १८४ ख।

बढ़ईशालाओं में अथवा कुंभकार की कुंभकारशालाओं में भी वसति ग्रहण कर लेते थे। स्वाध्याय तथा ध्यान की दृष्टि से कोई उपयुक्त स्थान न मिलने पर वृक्षमूल, अरण्य अथवा श्मशान में ही आसन लगा लेते थे।[1]

वे सब प्रकार का कुलाभिमान त्याग कर, मान-अपमान की भावना से रहित होकर उच्च, मध्यम तथा निम्न कुलों के गृह-समुदायों में भिक्षा के लिए जाते थे। जिस तरह गाय नाना स्थानों का भ्रमण करके उदरपोषण करती है उसी तरह वे भी गोचरी से उदरपोषण करते थे। वे सामान्य रीति से गृहस्थों के घरों में भिक्षा के लिए उसी समय जाते थे जब उनके आहार-पानी का समय होता था, अन्य समय नहीं। यदि देखते कि कोई ब्राह्मण श्रमण या ग्राम-पिंडोलक (शरीर पर भस्म धारण करने वाला भिक्षु) पहले से आहार ले रहा है तो उस भिक्षु का उल्लंघन करके घर में प्रवेश नहीं करते थे। तब तक चुपचाप बाहर एक किनारे खड़े रहते थे जब तक वह भिक्षु आहार लेकर वापस न लौट आता। वे इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके कारण किसी की वृत्ति का उच्छेद न हो, यहाँ तक कि यदि कुत्तों अथवा कौवों को आहार लेते देखते थे तो उस रास्ते से बचकर निकलते थे ताकि उनकी वृत्ति का उच्छेद न हो।

वे भिक्षा में वही आहार ग्रहण करते थे जो गृहस्थ ने अपने लिए बनाया हो। उस आहार का भी उतना ही भाग स्वीकार करते थे जिससे गृहस्थ स्वयं भूखा न रहे और उसे अपने लिए फिर से आहार बनाने की आवश्यकता न पड़े। वे अपने निमित्त अथवा साधुओं के निमित्त विशेष रीति से बनाया गया आहार ग्रहण नहीं करते थे। वे आहार शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए नहीं, वरन् इसलिए ग्रहण करते थे कि शरीर संयम-साधना में समर्थ बना रहे। ऐसा सरस और सुकाम (गरिष्ठ) आहार नहीं स्वीकार करते थे जो इंद्रियों को उत्तेजना देनेवाला हो। वे परिमित परिमाण में नीरस तथा रूक्ष आहार ही ग्रहण करते थे, जैसे स्वादहीन तथा ठंडा, पुराने उड़द या मूँग से बना आहार, मूँग के ऊपर का छिलका, शुष्क चना, बेर का चूर्ण, शाक या चावल का उबला पानी, जौ का भात, जौ का पानी अथवा शीतल काँजी।

वे कर्कश, कठोर, व्यक्ति-व्यक्ति में भेद उत्पन्न करनेवाली, अन्य प्राणियों के मन में कष्ट, पीड़ा या वेदना उत्पन्न करनेवाली वाणी का प्रयोग नहीं करते थे। वे सदैव मित और हितकर वचन बोलते थे। असत्य अथवा सत्यासत्य भाषा का प्रयोग नहीं करते थे, केवल सत्य तथा व्यवहार-भाषा का प्रयोग करते

१. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध, नवम अध्ययन।

थे। जिस बात का निश्चय न हो उसके संबंध में निश्चयात्मक भाषा का व्यवहार नहीं करते थे। वे सदा प्रत्येक शब्द विचारपूर्वक बोलते थे। वे प्रशंसा अथवा निंदायुक्त, अनार्य अथवा असभ्य भाषा का व्यवहार नहीं करते थे।

अपने ब्रह्मचर्यवास को पुष्ट करने के लिए वे कामराग बढ़ानेवाली स्त्री-कथा न तो कहते थे और न सुनते थे। स्त्रियों के अंगों की ओर कभी रागपूर्वक दृष्टि नहीं डालते थे। स्त्रियों के साथ कभी एक आसन पर नहीं बैठते थे। स्त्रियों के कूजित (सुरतकाल में कपोतादि की तरह किया जानेवाला अव्यक्त शब्द), रुदित (रतिकलह), गीत (गान इत्यादि), हसित (हास-परिहास), स्तनित (सुरतकाल में किया जानेवाला सीत्कार आदि शब्द), क्रंदित (करुण रोदन), विलाप (पतिवियोग में रुदन) आदि शब्द कानों में न पड़ें, इसीलिए कभी गृहस्थों के चित्रों से सुशोभित, पुष्पमालाओं, अगर-चंदनादि से सुवासित, सुंदर वस्त्रों से अलंकृत, स्त्रियों, पुरुषों तथा नपुंसकों से सेवित घरों में नहीं ठहरते थे। वे स्त्रियों के साथ की गयी पूर्वक्रीड़ा या पूर्वरति का कभी स्मरण नहीं करते थे।[१]

दिन और रात के आठ प्रहरों में उनके प्रायः छह प्रहर स्वाध्याय अथवा ध्यान में बीतते थे। उनकी दिनचर्या प्रायः निम्न प्रकार रहती थी—[२]

दिन की प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय। दूसरी पौरुषी में ध्यान। तीसरी पौरुषी में आधा योजन के क्षेत्र में भिक्षाचर्या, चौथी पौरुषी में स्वाध्याय। पौरुषी का चतुर्थांश शेष रहने पर मल-मूत्रादि त्यागने के स्थान की प्रतिलेखना (सूक्ष्म निरीक्षण) तथा दिन में किये गये दोषों की आलोचना, निंदा तथा प्रतिक्रमण।

रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में निद्रा, चौथे प्रहर में स्वाध्याय। प्रहर का चतुर्थांश शेष रहने पर रात्रि में किये दोषों की आलोचना, निंदा तथा प्रतिक्रमण।

इस दिनचर्या से स्पष्ट है कि दिन और रात के आठ प्रहरों में उनके चार प्रहर स्वाध्याय में बीतते थे। स्वाध्याय के पाँच अंग माने जाते थे—

(१) वाचना—शास्त्रों का पठन-पाठन।

(२) पृच्छना अथवा प्रतिपृच्छना—संदेहयुक्त स्थलों को प्रश्न अथवा प्रति-प्रश्न करके स्पष्ट करना।

(३) परिवर्तनी—पढ़े हुए विषय को पुनः दुहराना।

---

१. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध की तृतीय चूला।

२. उत्तराध्ययन सूत्र का २६वाँ अध्ययन।

(४) अनुप्रेक्षा—पढ़े हुए विषय के अर्थ का चिंतन तथा मनन करना।

(५) धर्मकथा।

वे एकाग्रचित्त होकर इन सभी अंगों से स्वाध्याय करते थे। उनका स्वाध्याय भी ध्यान का ही एक रूप था। वे उस समय कायोत्सर्ग मुद्रा में रहते थे। इस मुद्रा में साधक अपने शरीर का हलन-चलन रोककर उसे निश्चल निष्कंप बना देता है और शरीर की अवस्थिति को ही भुला देता है। वे खड़े, लेटे, बैठे—हर स्थिति में कायोत्सर्ग मुद्रा सहज भाव से ग्रहण कर लेते थे।

ध्यान के समय उनके नेत्र निश्चल, निस्पंद, सौम्ययुक्त होकर नाक के अग्र-भाग पर स्थिर हो जाते थे। उनके मुख की शांति उस सरोवर के समान प्रतीत होती थी जिसमें मत्स्य सो रहे हों। उनके भ्रू निश्चल एवं विकारहीन, दोनों होंठ न अधिक खुले, न जोर से बंद किये हुए रहते। मुखमंडल पर किसी प्रकार का विकार नहीं लक्षित होता था। मुखमुद्रा पूरी तरह शांत तथा प्रमोदयुक्त रहती थी। वे प्रायः उत्कुटासन (गोदोहन आसन) अथवा पद्मासन से ध्यान करते थे।

वे प्रतिदिन प्रातः और सायं इस बात की सूक्ष्मातिसूक्ष्म समीक्षा करते थे कि साधना के पथ पर वे कितने पग आगे बढ़े और कितने पग पीछे हटे। वे अपनी एक-एक क्रिया का अपनी एक्सरे जैसी दृष्टि से सूक्ष्म अनुवीक्षण करते। यदि कोई क्रिया दोषपूर्ण प्रतीत होती तो 'मेरा वह पाप मिथ्या हो' (मिच्छामि) कहकर गहरा पश्चात्ताप प्रकट करते और उस पत्ताप का द्वार आत्मा के जिस छिद्र में देखते, उसे ही बंद कर देने के लिए सचेष्ट हो जाते। यह प्रतिदिन का प्रतिक्रमण (अपने दोषों की अनुभूति करके उनसे पीछे हटना) उनका आंतरिक कुतुबनुमा था जिसके बल पर वे साधना के पथ से तनिक भी डगमगाने या लड़खड़ाने पर अपने को पुनः सही मार्ग पर ले आते थे। यह प्रतिक्रमण के द्वारा दोष-शुद्धि ही साधना के मार्ग पर उनकी चमत्कारी प्रगति का मूल रहस्य था।

वे दोषों की आत्मस्वीकृति करके ही संतोष नहीं कर लेते थे, भविष्य में उन दोषों की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए प्रत्याख्यान (त्याग) करते थे।

वे कभी अभिगृह (प्रण) ले लेते कि आज अपनी भूख से इतने ग्रास कम आहार ग्रहण करूँगा। कभी नियम ले लेते कि आज इतने दत्ति (एक बार में बिना धारा टूटे जितना भोजन मिल गया) आहार और पानी लूँगा। कभी पेटिका की तरह, कभी अर्धपेटिका की तरह और कभी वक्राकार भ्रमण करके घरों में भिक्षा माँगने जाते। कभी शंख की तरह चक्राकार जाकर सीधे लौटते

हुए और कभी वक्र गति से जाकर वक्राकार लौटते हुए भिक्षा ग्रहण करते। कभी वे भिक्षाटन के लिए सीधे लंबे चले जाते और फिर लौटते हुए भिक्षा ग्रहण करते।

वे प्रायः तीसरी पौरुषी (दिन में १२ बजे से ३ बजे के बीच) भिक्षाटन के लिए निकलते थे। कभी वे भिक्षाटन का समय न्यून करने के लिए अभिग्रह ले लेते थे कि आज तृतीय पौरुषी के प्रथम चतुर्थांश में अथवा अंतिम चतुर्थांश में ही भिक्षा के लिए जाऊँगा और उतने ही समय में भिक्षा मिल जायगी तो ग्रहण करूँगा अथवा नही।

कभी वे अभिग्रह ले लेते थे कि अमुक भोजन-सामग्री से भरे हुए अमुक पात्र के होने या न होने पर ही भिक्षा लूँगा अन्यथा नहीं। कभी वे प्रण कर लेते थे कि गृहपति ने जो आहार रसोईघर से बाहर लाकर अपने निमित्त थाली आदि में रखा होगा, उसे ही लूँगा, अन्य को नहीं। कभी केवल भुने हुए निर्लेप चने लेने और कभी कोई रस और कभी कोई रस त्याग देने का निर्णय ले लेते।

कभी वे अभिग्रह कर लेते कि दाता स्त्री या पुरुष के अमुक रीति से अलंकृत होने या न होने, उसकी अमुक स्थिति या भाव-भंगिमा होने पर ही भिक्षा ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। कभी वे प्रण कर लेते थे कि अमुक पात्र में रखा अमुक अन्न ही भिक्षा में ग्रहण करूँगा, अन्य नहीं।

इन सभी अभिग्रहों के पीछे उनका उद्देश्य होता था—मन, वचन और काय का संवर (निरोध) करके पापों के सभी छिद्रों (आस्रवों) को बंद कर आत्मा को सर्वथा निश्छिद्र बना देना। कैवल्य की अवस्था तक पहुँचने से पूर्व उनकी १२ वर्ष ६ महीने १४ दिन की साधना का काल छद्मस्थ काल कहा जाता है। छद्मस्थ शब्द की व्युत्पत्ति जिस शब्द से हुई है उसका अर्थ छिद्र होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि छद्मस्थ काल में उनकी आत्मा छिद्रों (दोषों) से सर्वथा मुक्त नहीं थी। इन छिद्रों को बंद करने—मन, वचन और काय की समस्त चंचलता को मिटाकर समस्त पापमय प्रवृत्तियों से पराङ्मुख होकर आत्मा की शुभ प्रवृत्तियों का पथ प्रशस्त कर देने के लिए उनका सहज उपाय था—तप !

उन्होंने जितना कठोर तप किया उतना शायद ही उस युग में अन्य किसी श्रमण या ब्राह्मण ने किया हो। उनके तप का उद्देश्य काया को क्लेश देना उतना नहीं था जितना स्थूल शरीर को शांत, स्थिर, निष्क्रिय तथा प्रवृत्तिहीन बनाकर अंतर्जगत् की शक्तियों का अन्वेषण करना, उनको जाग्रत करना तथा उपयोग में लाना था; मनोग्रंथियों को खोलकर चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता का

बोध करना तथा अवचेतन मन में बद्धमूल संस्कारों का परिष्करण करना था; उपवास, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रसत्याग आदि के द्वारा श्वास को शांत, मंद तथा सूक्ष्म बनाकर सभी प्रकार के विचारों का विसर्जन करके चित्त को निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचा देना था। सिक्के के दो पहलुओं की भाँति उनका बाह्य तप उनके आभ्यंतर तप का ही दूसरा रूप था।

साधना-काल में उन्होंने जितने लम्बे उपवास किये, उतने शायद ही उस युग में अन्य किसी श्रमण या ब्राह्मण ने किये हों। एक बार उन्होंने पूरे छह महीने का उपवास किया। दूसरी बार उन्होंने पाँच दिन कम छह महीने का उपवास किया। चार-चार मास के नौ उपवास किये। तीन मास, ढाई मास, दो मास तथा डेढ़ मास के दस उपवास किये। एक मास के १२ तथा पंद्रह-पंद्रह दिन के ७२ उपवास किये। दो-दो दिन के २२९ उपवास किये। उन्होंने चार हजार पाँच सौ चौदह दिनों के साधनाकाल में चार हजार एक सौ पैंसठ दिन उपवास किया और केवल तीन सौ उनचास दिन आहार ग्रहण किया।[१]

सामान्य रूप से एक व्यक्ति एक मिनट में १५-१६ बार श्वास लेता है। मन जब राग या द्वेष से युक्त होता है तो श्वास की गति तेज हो जाती है। राग और द्वेष मंद होने पर श्वास भी मंद हो जाता है। उपवास की अवस्था में भी श्वास मंद हो जाता है। पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक तनाव-शैथिल्य की दशा में शरीर के लिए बाहरी ऊर्जा की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है और इसीलिए योगी समाधिस्थ अवस्था में आसानी से कई-कई महीने निराहार बिता देता है। निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपने साधना-काल में ३० दिनों में २७.५ दिन जिस प्रकार निराहार रहकर बिताये, उससे इंगित मिलता है कि उनका यह काल अधिकांशतया समाधिस्थ अवस्था में बीता।

उन्होंने प्रथम वर्षावास वज्जीसंघ के अस्थिक ग्राम में किया।[२] यह गाँव उजड़ चुका था। उसके बारे में प्रसिद्ध था कि पहले वह धन-धान्य से पूर्ण था और वर्धमानपुर कहलाता था। उसके समीप ही वेगमती नदी बहती थी जिसके दोनों किनारों पर बहुत कीचड़ था। एक बार एक सार्थवाह इसी कीचड़वाले मार्ग से ५०० शकटों को लेकर जा रहा था। उसके शकट कीचड़ में फँस गये। उस सार्थवाह के पास एक बहुत ही हृष्ट-पुष्ट बैल था। इसी की सहायता से उसने अपने सारे शकट कीचड़ से बाहर निकाले।

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, पृ० १००-१०१।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्व भाग, पृ० २७३-७४।

अत्यधिक परिश्रम के कारण उस बैल को खून की कै हुई और वह वहीं पर गिर पड़ा। सार्थवाह उस गाँव के लोगों पर उसकी देखभाल की जिम्मेदारी छोड़कर अपने शकटों के साथ आगे चला गया, क्योंकि वर्षाऋतु निकट आ रही थी। वह बैल की सेवा-शुश्रूषा के लिए गाँववालों को धन तथा चारा भी दे गया। किंतु गाँववालों ने उस बैल की खबर न ली और वह मर गया।

इस घटना के बाद ही वर्धमानपुर महामारी के प्रकोप से उजड़ गया और वहाँ हड्डियों का ढेर लग जाने से लोग उसे अस्थिक ग्राम कहने लगे। ग्रामवासियों का विश्वास था कि वह बैल ही मर कर वहाँ शूलपाणि यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ और उसी के कोप से गाँव उजड़ गया। अतएव उन्होंने उस शूलपाणि यक्ष को तुष्ट करने के लिए वहाँ पर उसका एक चैत्य बनवा दिया। इसी चैत्य में वसति ग्रहण करके निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपना प्रथम वर्षावास १५-१५ दिनों के आठ उपवासों में बिताया।

उन्होंने अपने दूसरे वर्षावास में एक मास का उपवास किया। यह वर्षाकाल उन्होंने राजगृह के निकट नालंदा में बिताया।[१] नालंदा राजगृह का शाखानगर और उससे एक योजन की दूरी पर था। यह विद्या का प्रसिद्ध केंद्र था। यहाँ अभ्यर्थियों को अभीप्सित दान मिलता था। दाताओं के लिए कुछ भी अदेय नहीं था, वे कभी 'ना' नहीं करते थे, इसीलिए इसका नाम नालंदा पड़ गया था। इसके उत्तर-पश्चिम में शेषद्रका नामक एक उदकशाला (प्याऊ) थी। कुछ अन्य जनश्रुतियों के अनुसार एक आम्रवन के मध्य तालाब में रहनेवाले नाग के नाम पर इसका यह नाम पड़ गया था।

तीसरे वर्षावास में उन्होंने प्रथम बार दो मास का तप (उपवास) किया। यह वर्षावास उन्होंने अंग देश की राजधानी चंपा में किया।[२] अगला वर्षावास उन्होंने चंपा की शाखा-नगरी पृष्ठचंपा में किया और इस बार लगातार चार महीने का तप किया।[३]

साधना के पथ में पड़नेवाले सभी विघ्नों (उपसर्गों) को वे समभावपूर्वक सहन करते थे। इन विघ्नों के कारण अपने को साधना-पथ से रंचमात्र विचलित नहीं होने देते थे, इसे अपनी परीषह (परीक्षा) मानते थे। परीषह-जय को उन्होंने अपने साधना-पथ की कसौटी बना लिया था। जितनी कठिन परीक्षा

---

१. वही, पृ० २८३।

२. वही, पृ० २८४।

३. वही, पृ० २८७।

होती थी उतनी ही दृढ़ता से वे अपने को साधना-पथ पर स्थिर रखने का यत्न करते थे। उन्होंने अपने छद्मस्थ काल में १२ वर्षों से अधिक समय तक देव, मानव और तिर्यंच (पशु-पक्षी) कृत सभी उपसर्गों को स्थिरतापूर्वक सहन किया, अपने मन को किसी भी प्रकार खिन्न अथवा उद्विग्न नहीं होने दिया और उपसर्ग लानेवालों को मूढ मानकर उनके प्रति क्षमा एवं मैत्रीभाव बनाये रखा।

उनके परीषह-जय के संबंध में अनेकानेक जनश्रुतियाँ सुरक्षित हैं। उन्हें सबसे पहला उपसर्ग अपनी प्रव्रज्या के प्रथम दिन ही सहन करना पड़ा।[1] वे ज्ञातृखंड वन से प्रस्थान करके गंडकी नदी को स्थलमार्ग (पुल) से पार कर कर्मारों (लोहारों) के गाँव कमरग्राम में पहुँचे। उस समय एक मुहूर्त दिन अवशेष था। वे गाँव के बाहर एक वृक्ष के नीचे नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके तथा दोनों भुजाएँ प्रलंबित करके स्थाणु की तरह ध्यानरत हो गये।

एक ग्वाला सारे दिन हल जोतकर सन्ध्या समय बैलों सहित लौटा। वह बैलों को उनके पास चरने के लिए छोड़कर गायों को दुहने के लिए गाँव में चला गया। बैल चरते-चरते जंगल में दूर चले गये। ग्वाला जब लौटा तो बैलों को वहाँ न पाकर उस श्रमण से पूछा—हे देवार्य, मेरे बैल कहाँ गये। निगंठ ज्ञातपुत्र तो ध्यानमग्न थे, उनसे कोई उत्तर न पाकर उसने समझा कि इस तपस्वी को पता नहीं है। वह रात भर जंगल में अपने बैलों को ढूँढ़ता रहा।

संयोग से प्रातःकाल बैल स्वयं निगंठ ज्ञातपुत्र के पास आकर बैठ गये। ग्वाला जब रात भर का थका-माँदा और बैलों के न मिलने से खिन्न वापस लौटा तो बैलों को उस निगंठ श्रमण के पास बैठा देखकर आपे से बाहर हो गया। उसने समझा कि यह दुष्ट व्यक्ति कोई बना हुआ तपस्वी है। यह वास्तव में बैल-चोर है और चोरी के लिए यह बाना बना लिया है। यह मेरे बैलों को चुरा ले जाना चाहता था, इसलिए इसी ने उनको कहीं छिपा दिया था। अभी मैं आ न जाता तो यह उनको लेकर भाग जाता। वह बैलों को बाँधने की रस्सी लेकर उनको मारने दौड़ा। परंतु तभी कुछ ग्रामवासी उधर से निकले और उन्होंने उसे रोक दिया। समझाया—अरे दुरात्मन्! यह तू क्या करता है। क्या तुझे यह पता नहीं कि यह राजा सिद्धार्थ के पुत्र कुमार वर्धमान हैं। सांसारिक सुखों

---

१. वही, पृ० २६९-७०।

को असार जानकर ज्ञान की साधना के लिए अनगार बन गये हैं। ग्वाले ने लज्जित होकर उनसे अपने कृत्य के लिए क्षमा माँगी और चला गया।

निगंठ ज्ञातपुत्र कर्मार ग्राम से विहार करके कोल्लाग सन्निवेश पहुँचे। कोल्लाग सन्निवेश में भी ज्ञातृकुल के अनेक श्रमणोपासक क्षत्रिय रहते थे। वहाँ उनकी एक पौषधशाला थी, जहाँ वे पौषधोपवास करते थे। निगंठ ज्ञातपुत्र ने वहाँ के बहुल ब्राह्मण के घर घी और मधु (शर्करा) से युक्त परमान्न (खीर) खाकर अपने दो दिन के उपवास के बाद प्रथम पारणा की।[१]

वहाँ से वे मोराक सन्निवेश गये और दुईज्जंतक नाम से विख्यात गृहस्थ परिव्राजक तापसों के आश्रम में ठहरे। इस आश्रम के कुलपति ने, जो उनके पिता के मित्र थे, उन्हें अपने आश्रम में वर्षावास के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने उनका आमंत्रण स्वीकार कर लिया और आस-पास के गाँवों का भ्रमण करके वर्षावास के लिए आषाढ़ की पूर्णिमा को वहाँ लौट आये। किंतु परिव्राजकों के उस आश्रम में वे पन्द्रह दिन से अधिक नहीं ठहर सके, क्योंकि उनका सर्व-विरत तपस्वी का संयमपूर्ण जीवन उन गृहस्थ परिव्राजकों से मेल नहीं खाता था।

वर्षा ऋतु आरंभ हो गयी थी, परंतु अभी घास अधिक नहीं बढ़ी थी। अतएव क्षुधा से पीड़ित गायें आश्रम की झोपड़ियों को ही खाने के लिए दौड़ती थीं। आश्रम के परिव्राजक गायों को ऐसा करने से रोकते, मारते और भगा देते थे। किंतु निगंठ ज्ञातपुत्र का तो अधिकांश समय स्वाध्याय, ध्यान, दोषों की आलोचना, निंदा और प्रतिक्रमण में बीतता था। भला उनका ध्यान दूसरे तापसों की भाँति गायों को भगाने की ओर कहाँ जाता।

आश्रम के कुलपति ने एक दिन ज्ञातपुत्र को मीठे शब्दों में उलाहना दिया—कुमार! ऐसी उदासीनता किस काम की? पक्षीगण भी अपने घोसलों की रक्षा करते हैं। आप क्षत्रियकुमार होकर क्या अपनी झोपड़ी की भी रक्षा नहीं कर सकते?

इस घटना के बाद ही निगंठ ज्ञातपुत्र ने उस स्थान को त्याग दिया और अभिग्रह किया कि भविष्य में वे किसी अप्रीतिकारक स्थान में वसति नहीं ग्रहण करेंगे, मौन रखेंगे और पाणिपात्र में ही भोजन ग्रहण करेंगे।[२] उन्होंने अपना पहला वर्षाकाल अस्थिक ग्राम के शूलपाणि यक्षायतन में बिताया। ग्रामवासियों

---

१. वही, पृ० २७०।

२. वही, पृ० २७१।

का विश्वास था कि शूलपाणि यक्ष क्रूर स्वभाव का होने के कारण अपने स्थान में किसी को जीता नहीं छोड़ता। यदि वहाँ कोई पथिक भूल से रात में ठहर जाता है तो वह अपने दंत-नख के प्रहार से उसे नाना कष्ट देकर मार डालता है और प्रातःकाल वह व्यक्ति जीवित नहीं देखा जाता। किंतु प्रातःकाल ग्राम-वासियों ने जब उस निगंठ श्रमण को सकुशल तथा ध्यान में मग्न पाया तो वे उसकी तपस्विता से बहुत प्रभावित हुए और यही समझा कि इस तपस्वी ने अपने देवबल से इस क्रूर यक्ष के प्रकोप को शांत कर दिया है।[1]

प्रव्रज्या लेने के बाद निगंठ ज्ञातपुत्र को चार मास से अधिक समय तक, अपने शरीर पर गोशीर्ष-चंदनादि सुगंधित द्रव्यों का अनुलेपन होने के कारण अनेकानेक उपसर्ग सहन करने पड़े।[2] उनके सुवासित शरीर की गंध से आकर्षित होकर भ्रमर, मधुमक्खी आदि जीवजन्तु शरीर पर आकर बैठ जाते और रुधिर तथा मांस का आस्वादन लेने के लिए डंक मारते थे।

गाँवों के बाहर जिन शून्यागारों में ठहरते थे वे प्रायः सर्प, गिद्ध आदि जीवों से युक्त होते थे जिनके कारण उन्हें भीषण उपसर्ग सहन करने पड़ते थे। बहुधा ऐसे स्थानों पर चोर, सशस्त्र ग्राम-रक्षक अथवा कामांध स्त्री-पुरुष पहुँच जाते थे। वे उनसे पूछते—तुम कौन हो? यहाँ क्यों खड़े हो? ध्यानमग्न होने पर वे ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं देते थे। यदि वे क्रोधित होकर उन्हें मारने लगते तो भी वे मन में प्रतिशोध की भावना कभी नहीं लाते थे। यदि वे बाहर खड़े होकर पूछते—अंदर कौन है? तो इतना ही उत्तर देते कि मैं भिक्षु हूँ। यदि कहते कि यहाँ से चले जाओ तो उस स्थान को अप्रीतिकर समझकर छोड़ देते थे।

यदि उन्हें कभी गृहस्थों से अंशतः सेवित स्थानों में ठहरना पड़ता तो अपना अधिकांश समय ध्यान में बिताते थे। यदि कभी स्त्री-पुरुषों में चलने-वाली श्रृंगारयुक्त कामोत्तेजक वार्ताएँ उनके कानों में पड़ जातीं तो वे उनके अंदर कोई रागभाव नहीं उत्पन्न करती थीं। उस काल में संतानहीन कुल-रमणियों, धायमाताओं तथा दासियों में यह धारणा प्रचलित थी कि तपस्वी श्रमणों के साथ मैथुन-सेवन से बलवान्, तेजस्वी, कीर्तिमान् तथा शूरवीर पुत्र की प्राप्ति होती है। यदि ऐसी स्त्रियाँ कभी उनकी ओर रागपूर्ण दृष्टि डालतीं तो भी उनका मन ध्यान के कोठे से तनिक भी विचलित नहीं होता था। निगंठ ज्ञातपुत्त ने मैथुन-सेवन को ग्रामधर्म मानकर मन, वचन, काय तथा कृत,

---

१. वही, पृ० २७४-७५।

२. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध।

कारित एवं अनुमोदित भाव से उसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। वे मानते थे कि मोघ (अज्ञ) पुरुष मैथुन-सेवन में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार किंपाक फल देखने में सुंदर लगता है, परंतु उसका परिणाम विषैला होता है, उसी प्रकार मैथुन-सेवन संसार बढ़ाने वाला होता है।

प्रव्रज्या लेने के बाद प्रथम चार वर्षों तक निगंठ ज्ञातपुत्त की चर्या का क्षेत्र मुख्य रूप से वज्जीसंघ, कोशल, मगध तथा अंग देश रहा। इन सभी क्षेत्रों के लोग श्रमणों की तपस्या-विधि से भली भाँति परिचित थे।

एक बार जब वे कोशल देश में भ्रमण करने के बाद नौका से गंगा पार कर रहे थे तो भयंकर तूफान आ गया। हवा के तेज झोकों में नौका भँवर में पड़कर चक्कर काटने लगी। सभी यात्री मृत्यु समीप जानकर भयातुर होकर अपने-अपने इष्ट देवता का स्मरण करने लगे, किंतु निगंठ ज्ञातपुत्र निर्भय होकर नौका के एक कोने में कायोत्सर्ग मुद्रा में मेरु की तरह अचल बैठे रहे। थोड़ी देर बाद तूफान शांत हो गया और नौका सकुशल नदी के किनारे लग गयी। नौका के सभी यात्रियों ने यही समझा कि इस निगंठ श्रमण के पुण्य-प्रताप से ही उनकी जीवन-रक्षा हुई है और उन्होंने उनके प्रति भारी कृतज्ञता व्यक्त की।

निगंठ ज्ञातपुत्त नौका से उतरकर गंगा के किनारे चलते हुए मल्ल देश के थूणाक सन्निवेश के बाहर पहुँचकर ध्यान में लीन हो गये। कुछ समय बाद पुण्य नामक सामुद्रिकवेत्ता उधर से निकला। वह गंगातट की बालू में बने निगंठ ज्ञातपुत्र के चरण-चिह्नों को देखकर आश्चर्य में डूब गया। उसने सोचा—ये चरणचिह्न तो किसी चक्रवर्ती के हैं। चलूँ, उसी की सेवा में रहूँगा। यदि वह मुझ पर प्रसन्न हो गया तो मेरा सारा दारिद्रय दूर हो जायेगा। वह उन्हीं पदचिह्नों का अनुसरण करता हुआ थूणाक सन्निवेश के निकट पहुँच गया। वहाँ एक अशोक वृक्ष के नीचे निगंठ ज्ञातपुत्र को ध्यान-मग्न देखकर आश्चर्य में डूब गया कि इस व्यक्ति के तो केवल पैरों में ही नहीं, सारे शरीर में चक्रवर्ती के लक्षण हैं। फिर यह मुंडित अनगार श्रमण के वेश में कैसे है? उसका सामुद्रिक शास्त्र से विश्वास उठ गया। उसकी इच्छा हुई कि मैं सामुद्रिक शास्त्र के अपने सारे ग्रंथों को गंगा में प्रवाहित कर दूँ। उस सामुद्रिकवेत्ता को पता नहीं था कि यह निगंठ एक दिन चतुरंत पृथ्वी पर धर्मचक्र का प्रवर्तन करके धर्मचक्रवर्ती कहलायेगा।[१]

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २८०-८२।

निगंठ ज्ञातपुत्त ध्यानमग्न होने पर काया की अवस्थिति को किस सीमा तक विस्मृत कर देते थे, इसके संबंध में एक रोचक कथा मिलती है। वे जब कोशल देश में भ्रमण कर रहे थे तो श्रावस्ती से निकलकर हल्लिदृग नामक ग्राम में पहुँचे। उस गाँव के बाहर हल्लिदृग नामक एक विशाल वृक्ष था जिसके आधार पर उसका नामकरण हुआ था। निगंठ ज्ञातपुत्र उसी वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानलीन हो गये।

जाड़े की रात में एक सार्थवाह भी अपने सार्थ के साथ उसी वृक्ष के नीचे आकर ठहर गया। शीत से बचने के लिए सार्थ के लोगों ने रात में फूस जलाया। प्रभातकाल होने पर वे सब लोग चले गये। किंतु उन लोगों ने रात में जो फूस जलाया था उसे बुझाया नहीं। वह जलता रहा और उसकी आग धीरे-धीरे वहाँ पर पहुँच गयी जहाँ निगंठ ज्ञातपुत्र ध्यानमग्न थे। आग ने उनके पैरों को झुलसा दिया किंतु उनका मन ध्यान के कोठे में इतना तल्लीन था कि उन्हें उसकी अनुभूति नहीं हुई।[१]

उस काल में बहुत से चोर और गुप्तचर भी पकड़े जाने से बचने के लिए श्रमणों के वेष में विचरण करते थे। निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपने छद्मस्थकाल में आधे दर्जन से अधिक बार चोर अथवा गुप्तचर के संदेह में पकड़े जाकर भयंकर उपसर्ग सहन किये।

एक बार वे अंग देश से ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए चोराय सन्निवेश पहुँचे। यह संभवत: चोरों का गाँव था। वहाँ के चोरों को राजा के आक्रमण का भय था, इसलिए वे लोग तिराहों, चौराहों, परित्यक्त स्थानों, वनों तथा आरामों में घूम-घूमकर देख रहे थे कि कहीं राजा का कोई गुप्तचर तो नहीं घुस आया है। एक आराम में बाँसों के झुरमुट के बीच निगंठ ज्ञातपुत्त को कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े देखकर उन्होंने समझा कि अवश्य ही यह कोई गुप्तचर है, तभी खुले खजाने गाँव में न घूमकर यहाँ इस प्रकार छिपा खड़ा है। उन्होंने जब उसका परिचय माँगा तब वह मौन रहा। इससे उसके गुप्तचर होने के संदेह को और बल मिला। वे उसे पकड़कर एक कुएँ के निकट ले गये और चमड़े की पेटी से बाँधकर कुएँ में बार-बार डुबाने लगे। तभी वज्जीसंघ के अस्थिक ग्राम में रहनेवाले उत्पल नैमित्तिक की बहिनें सोमा और जयंती परिव्राजिकाएँ उधर से निकलीं। उन्होंने ग्राम-रक्षकों को निगंठ ज्ञातपुत्र का परिचय देकर उन्हें मुक्त कराया।

---

१. वही, पृ० २८८।

दूसरी बार कोशल देश में भी उनको इसी प्रकार का उपसर्ग सहन करना पड़ा। कोशल देश की सीमा पर शैलप (पर्वत) प्रदेश था। इस प्रदेश में कलंवु का सन्निवेश स्थित था, जिसके स्वामी मेघ और कालहस्ती नामक दो भाई थे। कालहस्ती अपनी सीमा में उपद्रव मचानेवाले चोरों को दंडित करने के लिए अपने कुछ सुभटों के साथ उनका पीछा कर रहा था। तभी रास्ते में निगंठ ज्ञातपुत्र मिल गये। कालहस्ती ने उनसे पूछा--तुम कौन हो ? जब वे मौन रहे तो उन्हें चोर समझकर बाँध लेने का आदेश दिया, खूब पिटाई करायी और अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवा दिया। मेघ ने निगंठ ज्ञातपुत्त को कुमारावस्था में क्षत्रियकुंड में देखा था। उसने उन्हें पहचान लिया, अपने भाई की अज्ञानता के लिए उनसे क्षमा माँगी और उन्हें मुक्त कर दिया।[1]

इस घटना के बाद ही निगंठ ज्ञातपुत्र ने आर्य क्षेत्र के बाहर अनार्य क्षेत्र में जाकर भ्रमण करने का निश्चय किया। वे अपनी परीक्षा लेना चाहते थे कि प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपनी संयम-साधना को अक्षत रखने की कितनी क्षमता उन्होंने प्राप्त कर ली है।

उस काल में अंग देश आर्य देश की सीमा माना जाता था और कमंगला सन्निवेश आर्य क्षेत्र का सीमांत ग्राम था। उसके बाद अनार्य देश आरंभ हो जाता था। उस काल में पश्चिमी बंगाल के तामलुक, मेदिनीपुर, हुगली तथा वर्दवान जिलों का भूभाग लाढ़ देश कहलाता था। इसका उत्तरी भाग वज्रभूमि (हीरेवाली भूमि) कहलाता था और दक्षिणी भाग सुम्ह भूमि, जहाँ ताम्रलिप्ति जलपट्टन स्थित था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने प्रव्रजित जीवन के पाँचवें वर्ष में इसी लाढ़ देश की यात्रा की। इस देश में ग्राम दूर-दूर थे। ग्रामवासी श्रमणों को गुप्तचर समझकर उनके साथ क्रूर व्यवहार करते थे। उन्हें देखते ही उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ देते थे। इसीलिए इस क्षेत्र में श्रमणों का विहार दुष्कर था और वे शिकारी कुत्तों से अपनी रक्षा के लिए शरीर से चार अंगुल ऊँची लाठी लेकर चलते थे।

लाढ़ देश में निगंठ ज्ञातपुत्त को भयंकर उपसर्ग सहन करने पड़े। जिस प्रकार संग्राम में गजराज शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना आगे ही बढ़ता जाता है, उसी प्रकार वे भी इन उपसर्गों की किंचित् परवाह किये बिना वहाँ विचरण करते रहे। उन्हें वहाँ ठहरने के लिए जब दूर-दूर तक गाँव न मिलते तो वे भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास करते थे।

---

१. वही, पृ० २९०।

जब वे किसी गाँव के सन्निकट पहुँचते तो ग्रामवासी गाँव से निकलकर उन्हें मारते-पीटते, उन पर दंड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा ढेलों से प्रहार करते और दूसरे गाँव में जाने को कहते।

वहाँ पर रूखा-सूखा बासी भोजन भी बड़ी कठिनता से उपलब्ध होता था। गाँव में प्रवेश करते ही कुत्ते काटने दौड़ते थे। ग्रामवासी उन काटते तथा नोचते हुए कुत्तों को हटाते नहीं थे, वरन् छू-छूकर उन्हें और काटने के लिए लहकाते थे। वे जब ध्यानमग्न होते तो गाँव के लोग उन पर धूल फेंकते, उन्हें गेंद की तरह उछालकर पटक देते अथवा आसन से ढकेल देते।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने लाढ़ देशवासियों के प्रति मन में किंचित् दुर्भावना लाये बिना इन सब भयानक कष्टों को सहते हुए अपनी संयम-साधना को उसी प्रकार अक्षत रखा जिस प्रकार कवच पहने हुए शूरवीर युद्ध में अक्षत रहता है।[१]

लाढ़ देश का विचरण करके जब वे लौट रहे थे तो सीमांत गाँव, पूर्ण-कलश सन्निवेश में दो तस्कर मिले। वे अनार्य देश में चोरी करने जा रहे थे। एक नग्न मुंडित श्रमण को सामने से आते देखकर उसे अपशकुन माना और लपलपाती तलवार हाथ में लेकर उसे मारने दौड़े।[२] संयोग से उसी समय आकाश से बिजली गिरी और वे वहीं पर ढेर हो गये।

लाढ़ देश से लौटने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपना पाँचवाँ वर्षावास मगध देश के दक्षिण में अवस्थित मलय जनपद (हजारीबाग तथा मानभुम जिला) की राजधानी भद्दिया में किया।[3] इस जनपद में समाधिगिरि (सम्मेदशिखर) स्थित था जहाँ से पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने सिद्ध पद प्राप्त किया था।

वर्षाकाल समाप्त होने पर उन्होंने मल्ल देश की ओर प्रस्थान किया। वहाँ के कूपिम सन्निवेश (अनूपिया) में उन्हें पुनः तस्कर समझकर पकड़ लिया गया और रस्सियों से पीटा गया। पुरुषादानीय पार्श्वनाथ के तीर्थ में दीक्षित विजया तथा प्रगल्भा नामक दो साध्वियों को, जो संयम-साधना में असमर्थ होने पर परिव्राजिकाएँ बन गयी थीं, जब इस घटना की सूचना मिली तो उन्होंने वहाँ पहुँचकर ग्रामरक्षकों को निगंठ ज्ञातपुत्त का परिचय दिया और उन्हें मुक्त कराया।[४]

---

१. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० २९०।
३. वही, पृ० २९१।
४. वही, पृ० २९२।

निगंठ ज्ञातपुत्त कूपिम सन्निवेश से वैशाली पहुँचे और वहाँ एक कर्मारशाला में वसति ग्रहण करके ध्यानमग्न हो गये। उस कर्मारशाला का स्वामी छह महीने से बीमार था और बीमारी से उठने के बाद पहली बार स्वजनों तथा संबंधियों से परिवृत होकर अपने यंत्रादि के साथ काम पर आ रहा था। कर्मारशाला में एक नग्न श्रमण को खड़ा देखकर उसने उसे परम अमंगल माना और क्रोधित होकर हाथ में हथौड़ा लिये हुए उसे मारने दौड़ा। परंतु सन्निकट पहुँचने पर उसकी शांत वीतराग मुद्रा ने उसे इतना अभिभूत कर लिया कि वह अपने स्थान पर ही चित्रलिखित-सा खड़ा रह गया।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त को उस वर्ष शालिशीर्ष उद्यान के शीत के कारण भयंकर उपसर्ग सहन करने पड़े।[2] माघ का महीना था, कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। तेज ठंडी हवा शरीर में तीर की तरह चुभती थी। गृहस्थ लोग अपने घरों में गर्म वस्त्रों से लिपटे होने पर भी शीत से काँप रहे थे। किंतु निगंठ ज्ञातपुत्त उस ठंडी रात में भी एक वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न थे। उसी समय तेज वृष्टि होने लगी और हवा का वेग भी और तीक्ष्ण हो गया। वर्षा का हिम-शीतल जल तथा तेज पवन का स्पर्श शरीर पर तलवार के प्रहार से भी अधिक तीक्ष्ण प्रतीत हो रहा था, फिर भी निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने नग्न शरीर पर शीत का भयंकर उपसर्ग अम्लान भाव से सहन किया।

उन्होंने छठा वर्षावास पुनः मलय जनपद की राजधानी मद्दिया में तथा सातवाँ वर्षावास काशी जनपद की आलंभिया नामक नगरी में किया। वर्षावास के बाद ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए वे लोहार्गला नगरी पहुँचे जो ऊँचे भव्य भवनों तथा पण्यशालाओं से मंडित थी। इस नगरी के राजा का पड़ोसी राजा से संघर्ष चल रहा था जिससे नगर के अधिकारी बड़े सतर्क रहते थे। वे परिचय-पत्र के बिना किसी बाहरी व्यक्ति को नगर में प्रवेश नहीं करने देते थे। उन्होंने निगंठ ज्ञातपुत्त से भी परिचय-पत्र माँगा। जब वे मौन रहे तो उन्हें गुप्तचर समझकर गिरफ्तार कर लिया और राजा के पास ले गये। राजसभा में अस्थिकं ग्राम का उत्पल नैमित्तिक उपस्थित था। उसने जब निगंठ ज्ञातपुत्र का परिचय दिया तो उन्हें सम्मानपूर्वक मुक्त कर दिया गया।[3]

लोहार्गला से वे पुराने ताल (प्रयाग) गये, जहाँ के शकटमुख उद्यान में

---

१. वही, पृ० २९२।

२. वही, पृ० २९३।

३. वही, पृ० २९४।

एक वट वृक्ष के नीचे प्रथम राजा और प्रथम भिक्षाचर ऋषभदेव ने ध्यानस्थ होकर कैवल्य प्राप्त किया था। वे भी उसी उद्यान में जाकर ध्यानावस्थित हो गये।

उन्होंने अपना आठवाँ वर्षावास राजगृह में किया। नौवें वर्ष उन्होंने पुनः अनार्य भूमि (लाढ़ देश) का भ्रमण किया। इस बार उन्होंने वहाँ पूरे छह मास बिताये और अपना नौवाँ वर्षावास भी वहीं किया। वर्षावास के लिए कोई उपयुक्त स्थल न मिलने पर उन्होंने वृक्षमूल तथा खंडहरों में वास करके घूमते हुए चातुर्मास बिताया। इस बार भी लाढ़ देश में उन्हें भयंकर उपसर्ग सहन करने पड़े। इन उपसर्गों को सहन करके उन्होंने अपनी संयम-साधना में जिस शूरवीरता का परिचय दिया उसी के कारण वे महावीर कहलाने लगे।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपना दसवाँ वर्षावास श्रावस्ती में किया। इसके बाद दृढ़भूमि की ओर प्रयाण किया जहाँ छह महीने तक भयंकर उपसर्ग सहन करने पड़े। एक बार तो उन्हें एक ही रात में बीस उपसर्ग सहन करने पड़े।[2]

जनश्रुतियों के अनुसार तोसलिग्राम (कटक जिला, उत्कल प्रदेश) में उन्हें तस्कर होने के संदेह में फाँसी की सजा प्रदान की गयी। जब उनके गले में फाँसी का फंदा डालकर नीचे का तख्ता हटाया गया तब फंदा टूट गया। इस प्रकार सात बार फंदा लगाया गया और टूट गया, जिससे अधिकारी बड़े चकित हुए। उन्होंने राजा को सूचना दी। राजा ने कोई चमत्कारी महापुरुष जानकर उन्हें आदरपूर्वक मुक्त करा दिया।[3]

वहाँ से वे वैशाली पधारे और अपना ग्यारहवाँ वर्षावास नगरी से बाहर समरोद्यान में स्थित बलदेवालय में किया। वैशाली में एक श्रमणोपासक रहता था जिसकी संपत्ति क्षीण हो जाने से लोग उसे जीर्ण सेठ कहते थे। एक दिन वह समरोद्यान की ओर से जा रहा था, तभी उसने अशोक वृक्ष के नीचे निगंठ ज्ञातपुत्र को कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े देखा। उसने जाकर उनकी वंदना की और प्रार्थना की कि यदि महाश्रमण आज मेरे यहाँ आहार-पानी ग्रहण करें तो मुझे महान पुण्य की प्राप्ति होगी। वह लौटकर बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता रहा, किंतु जब आहार-पानी का समय व्यतीत हो जाने पर भी महाश्रमण नहीं पधारे, तो उसने समझ लिया कि आज उनके उपवास का दिन होगा। दूसरे दिन वह फिर उनकी वंदना करने पहुँचा और पुनः वही प्रार्थना की, किंतु उस

---

१. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कंध।

२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३११।

३. वही, पृ० ३१३।

दिन भी उसे निराश होना पड़ा। इस प्रकार वह चार मास तक प्रतिदिन उनकी सेवा में पहुँचता रहा, किंतु उसकी भावना पूर्ण नहीं हुई। उसे पता नहीं था कि यह महाश्रमण किसी गृहस्थ के निमंत्रण पर उसके घर भिक्षान्न ग्रहण करने नहीं जाते। गोचरी करके उच्च, मध्यम तथा निम्न कुल के जिस किसी गृहस्थ के यहाँ प्रासुक (शुद्ध) आहार मिल जाता है, तटस्थ भाव से ग्रहण कर लेते हैं।

निगंठ ज्ञातपुत्र चार मास का तप पूरा होने के बाद भिक्षाचर्या के लिए जब नगर में गये तो पूर्ण नामक एक श्रेष्ठी के द्वार पर पहुँचे जो नया-नया धनी होने के कारण अभिनवश्रेष्ठी के नाम से विख्यात हो गया था। उसने अपने घर में एक श्रमण को प्रवेश करते देख दासी को संकेत किया कि जो कुछ आहार बचा हो इसे दे दे। दासी ने लकड़ी की कलछी भर जो कुलमाष (राजमाष) बचा था वही उसे दे दिया। निगंठ ज्ञातपुत्र ने उसी से अपने चातुर्मासिक तप का पारण किया।[1]

उन्होंने अपना बारहवाँ वर्षावास चंपा नगरी में स्वातिदत्त ब्राह्मण की यज्ञशाला में किया। वर्षाकाल समाप्त होने पर वे अंग देश से ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए छम्माणि (खानुमत) ग्राम पहुँचे जो जनाकीर्ण, तृण-काष्ठ-उदक-धान्य से सम्पन्न गाँव था। मगधराज ने उस गाँव को तीन वेदों में पारंगत कूटदंत नामक लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण आचार्य को दान कर दिया था, जिनके पास नाना दिशाओं तथा नाना देशों से बहुत से माणवक (विद्यार्थी) मंत्र (वेद) पढ़ने के लिए आते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्र को इस गाँव में अपने छद्मस्थ काल का सबसे कठिन और अंतिम उपसर्ग सहन करना पड़ा।[2] वे गाँव के बाहर एक वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। संध्याकाल को एक ग्वाला अपने बैलों को लेकर वहाँ पहुँचा और बैलों को उन्हीं के पास चरता छोड़कर किसी कार्य से गाँव चला गया। बैल चरते-चरते आसपास की झाड़ियों में छिप गये। ग्वाला जब लौटकर आया तो उसे अपने बैल नहीं दिखाई पड़े। उसने निगंठ ज्ञातपुत्र से पूछा—देवार्य, मेरे बैल कहाँ गये? किंतु निगंठ ज्ञातपुत्त तो ध्यान के कोठे में थे। उन्होंने जब ग्वाले के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने उनके दोनों कानों में काँस नामक घास की शलाकाएँ ठोक दीं और शलाकाएँ बाहर से दिखाई न पड़ें, इसलिए उनका कान से बाहर का निकला हिस्सा तोड़ दिया।

१. त्रिशष्ठिशलाका पुरुष।
२. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३२१।

निगंठ ज्ञातपुत्त को कान में शलाकाएँ ठोंके जाने से अत्यधिक वेदना हुई, फिर भी उनकी मुखमुद्रा शांत तथा प्रमोदयुक्त बनी रही, उनके अंतर्मन में किंचित् खिन्नता का भाव नहीं आया। वहाँ से विहार कर वे मध्यम पावा पहुँचे और भिक्षाटन करते हुए सिद्धार्थ श्रेष्ठी के घर पहुँचे। श्रेष्ठी उस समय अपने मित्र खरक वैद्य से वार्तालाप कर रहे थे। आचार्य खरक धन्वन्तरि वैद्य के रूप में विख्यात थे। उन्होंने निगंठ ज्ञातपुत्र को देखते ही जान लिया कि उनके शरीर में कहीं शल्य है। शरीर का निरीक्षण करने पर उन्हें पता चल गया कि किसी दुष्टात्मा ने उनके कानों में शलाकाएँ ठोंक दी हैं।

सिद्धार्थ श्रेष्ठी और खरक वैद्य आपस में परामर्श करने लगे कि किस प्रकार इन शलाकाओं को निकाला जाय। इसी बीच निगंठ ज्ञातपुत्र भिक्षाचर्या के बाद एक उद्यान में जाकर ध्यानावस्थित हो गये।

सिद्धार्थ श्रेष्ठी और खरक वैद्य औषधियाँ लेकर वहाँ पहुँचे। खरक वैद्य ने पहले तेल की द्रोणी लेकर शरीर पर तेल की खूब मालिश की जिससे शलाकाएँ मुलायम पड़ गयीं, इसके बाद उन्होंने सँड़सी से पकड़कर उन्हें खींच लिया।

जनश्रुतियों के अनुसार शलाकाएँ निकाले जाने पर निगंठ ज्ञातपुत्र के कानों से रुधिर की धारा बह चली और मुँह से एक तेज चीख निकली। खरक वैद्य ने औषधि लगाकर रुधिर का प्रवाह बंद कर दिया।

निगंठ ज्ञातपुत्र की छद्मस्थ काल की साधना का उद्देश्य था—अविद्या का सर्वथा नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूप में अपने को एकांत रूप से लीन कर देना। इसी को कैवल्य अवस्था कहते हैं।

कल्पसूत्र में निगंठ ज्ञातपुत्र की कैवल्य-प्राप्ति का विशद वर्णन मिलता है। उस समय उनकी आयु का ४३वाँ और प्रव्रजित श्रमण जीवन का १३वाँ वर्ष चल रहा था। ग्रीष्म ऋतु का दूसरा मास तथा चौथा पक्ष अर्थात् वैशाख मास का शुक्ल पक्ष था। दशमी का दिन था। सूर्य की छाया पूर्व की ओर ढल रही थी, जिससे इंगित मिलता है कि चौथी पौरुषी चल रही थी।

निगंठ ज्ञातपुत्र अंगदेश के जंभिय ग्राम से बाहर ऋजुवालिका नदी के उत्तरी तट पर, श्यामाक नामक गृहपति के खेत में, एक जीर्ण यक्षायतन से उत्तर-पूर्व की दिशा में स्थित शाल वृक्ष से न अति दूर और न अति समीप, ऊपर को जानु और नीचे को सिर करके उकड़ूँ गोदोहन आसन में बैठे, सूर्य की आतापना लेते हुए ध्यान कर रहे थे। उन्होंने दो दिन का उपवास कर रखा था।

उस ध्यानस्थ अवस्था में उन्हें परम ज्ञान की प्राप्ति हुई। उन्हें अनुभूति हुई कि दीपक का प्रकाश जिस प्रकार स्वयं को तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार उन्हें भी संपूर्ण लोक के समस्त पदार्थों का हस्तामलक के समान बोध होने लगा है। भूत, वर्तमान, भविष्य तथा इस लोक तथा परलोक का कोई भी रहस्य उनके निकट अप्रकट नहीं रह गया है। वे समस्त जीवों के चित्त के समस्त भावों को देखने में समर्थ हो गये हैं।[१] उन्हें केवल (शुद्ध) ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है।

इस केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद निगंठ ज्ञातपुत्र केवली अथवा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहलाने लगे।

---

१. कल्पसूत्र, पृ० १८७।

४

प्राचीन जैनागमों से ही नहीं, प्राचीन बौद्धागमों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि निगंठ ज्ञातपुत्र अपने युग में सर्वज्ञ, सर्वदर्शी के रूप में विख्यात थे और उनके अनुयायियों का दावा था कि उनको चलते, खड़े होते, सोते-जागते, सदा-सर्वदा अखिल (अपरिशेष) ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। जैनागमों में उनका जो व्यक्तित्व-चित्र मिलता है, उसमें उनको भय, राग, द्वेष, मोह आदि सभी कषायों से रहित दिखाया गया है। इसीलिए उनका वचन सत्य और दोष-रहित माना जाता था। मन की समस्त शंकाओं का समाधान कर देने की सामर्थ्य रखने के ही कारण उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता था।

विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार निगंठ ज्ञातपुत्त केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जंभिय ग्राम से विहार करके वहाँ से १२ योजन दूर पर स्थित मज्झिम पावा पहुँचे, जहाँ के धनाढ्य ब्राह्मण आर्य सोमिल ने अपने यहाँ एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था और उसमें भाग लेने के लिए देश के कोने-कोने से हजारों वेदज्ञ ब्राह्मण पधारे थे। इन विद्वानों में ग्यारह प्रधान थे, जिनमें गौतम गोत्रीय आचार्य इंद्रभूति, अग्निभूति तथा वायुभूति सहोदर भाई थे और मगध के गोबर ग्राम के निवासी थे। उनकी अवस्था क्रमशः ५०, ४६ तथा ४२ वर्ष थी। ५० वर्षीय भारद्वाज गोत्रीय आचार्य व्यक्त तथा अग्निवेश्यायन गोत्रीय आचार्य सुधर्मा मगध के कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे। ५३ वर्षीय वसिष्ठ गोत्रीय आचार्य मंडित तथा ६५ वर्षीय काश्यप गोत्रीय आचार्य मौर्यपुत्र विदेह जनपद के पड़ोस में स्थित मौर्य सन्निवेश के निवासी थे। गौतम गोत्रीय ४८ वर्षीय आचार्य अकंपित मिथिला के तथा हारीत गोत्रीय ४६ वर्षीय आचार्य अचलभ्राता कोशल के वासी थे। कोडिन्य गोत्रीय ३६ वर्षीय आचार्य मेतार्य वत्सदेश के तुंगिक सन्निवेश से पधारे थे। इन सभी विद्वानों में आचार्य प्रभास सबसे छोटे थे। उनकी अवस्था अभी १६ वर्ष थी। वे भी कौडिन्य गोत्र के थे और राजगृह से पधारे थे। ये सभी आचार्य वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म-शास्त्र आदि चौदह विद्याओं में निष्णात थे और उनके साथ उनका विशाल शिष्य-परिवार भी यज्ञ में भाग लेने के लिए पधारा था।

आचार्य इंद्रभूति गौतम वाद करने में अत्यंत कुशल थे और उनको इस बात

का गर्व था कि अभी तक कोई वादी उनके सामने ठहर नहीं सका है। उनके शिष्य उनको वादिमदगंजन, वादिगज सिंह, वादिकदलीकृपाण, वादिचक्रचूड़ामणि आदि विशेषणों से संबोधित करते थे।

आचार्य इंद्रभूति गौतम भी अपने को सर्वज्ञ मानते थे और उन्होंने जब सुना कि गाँव के बाहर महासेन उद्यान में एक निगंठ श्रमण पधारा है जो सर्वज्ञ होने का दावा करता है तो उनके अहंकार को भारी ठेस लगी। भला एक गुफा में दो सिंह अथवा एक म्यान में दो तलवारें रह सकती हैं ? उनके रहते हुए दूसरा कोई सर्वज्ञ होने का दावा करे, यह उन्हें कैसे सहन हो सकता था ? उन्होंने सोचा, वह अवश्य कोई धूर्त है जिसने अपनी माया से लोगों में विभ्रम फैला दिया है। उससे वाद करने के लिए उनकी जीभ में खुजली होने लगी।

मस्तक पर द्वादश तिलक लगाये, सुवर्ण यज्ञोपवीत तथा पीत वस्त्र धारण किये, हाथ में दर्भ का आसन और कमंडल लिये, वे अपने पाँच सौ शिष्यों के परिवार के साथ उस निगंठ श्रमण से वाद करने के लिए महासेन उद्यान की ओर चल पड़े। किंतु निगंठ ज्ञातपुत्र के सम्मुख पहुँचते ही उनका मन गलित होने लगा। उनकी शांत, सौम्य, वीतराग मुद्रा ने उन पर जादू का असर डालना शुरू कर दिया। उन्होंने जब उनको दूर से देखते ही अपनी सुमधुर वाणी में उनका नाम और गोत्र लेकर उनका स्वागत किया तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि इनको मेरा नाम कैसे ज्ञात हो गया ? कहीं यह सचमुच तो सर्वज्ञ नहीं हैं ? फिर उन्होंने यह सोचकर मन की शंका का समाधान कर लिया कि मेरी विद्वत्ता के कारण मेरा नाम तीनों लोकों में विख्यात है। अतएव इनको मेरा नाम यदि ज्ञात हो तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।

किंतु इसके बाद ही जब उस निगंठ श्रमण ने उनके मन के अंदर गुप्त रीति से उमड़ते-घुमड़ते प्रश्नों को उद्घाटित करना तथा वेद और उपनिषदों के उद्धरण दे-देकर उनके सभी संशयों का निवारण करना आरंभ कर दिया तो उनका मिथ्या ज्ञान का सारा अहंकार चूर-चूर हो गया और जब उस महाश्रमण के अगाध ज्ञान के संमुख उनके समस्त तर्क-बाण कुंठित पड़ गये तब उन्होंने बाद में अपनी पराजय स्वीकार करके अपने पाँच सौ शिष्यों सहित उनके चरणों में निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण कर ली।

आचार्य इंद्रभूति गौतम को जब सूचना मिली कि उनके ज्येष्ठ भ्राता को महासेन उद्यान में आये निगंठ श्रमण ने शास्त्रार्थ में पराजित करके अपना शिष्य बना लिया है तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वे सोचने लगे—भले ही हिम

ज्वालामय बन जाय, अग्नि शीतल हो जाय, हवा का बहना रुक जाय, किंतु मेरे भाई को वाद में कोई पराजित नहीं कर सकता।

किंतु महासेन उद्यान से लौटनेवाले व्यक्तियों से जब इस बात की पुष्टि हो गयी कि उनके भाई ने वाद में पराजित होकर उस निगंठ श्रमण की शिष्यता ग्रहण कर ली है तो उन्होंने कहा—मेरे भाई को अवश्य ही छला गया है। वह निगंठ श्रमण निश्चय ही मायावी है।

आचार्य अग्निभूति गौतम अपने भाई को उस ऐंद्रजालिक के पंजे से मुक्त कराने के लिए तत्काल अपने पाँच सौ शिष्यों के परिवार के साथ महासेन उद्यान की ओर चल पड़े। किंतु निगंठ ज्ञातपुत्र के संमुख पहुँचने पर उनका मिथ्या ज्ञान-भेद उसी प्रकार चूर-चूर हो गया जिस प्रकार उनके बड़े भाई का हो गया था। उन्होंने भी अपने शिष्यों के परिवार सहित उनके चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

आचार्य वायुभूति गौतम को जब सूचना मिली कि उनके दो ज्येष्ठ भ्राताओं को उस निगंठ श्रमण ने वाद में पराजित कर दिया है, तो उनके मन में भी उसका दर्शन करने की उत्सुकता जाग उठी और वे भी अपने पाँच सौ शिष्यों के परिवार के साथ महासेन उद्यान पहुँचे। निगंठ ज्ञातपुत्र ने उनके मन में उठनेवाले सभी प्रश्नों का जिस तर्कपूर्ण रीति से समाधान कर दिया उससे उन्हें पक्का विश्वास हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं और वे भी अपने शिष्यों के परिवार के सहित उनके अंतेवासी बन गये।

इसके बाद क्रमिक रीति से आचार्य व्यक्त तथा आचार्य सुधर्मा अपने-अपने पाँच सौ शिष्यों के परिवार के साथ, आचार्य मंडित तथा आचार्य मौर्यपुत्र अपने-अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों के परिवार के साथ तथा आचार्य अकंपित, आचार्य अचलभ्राता, आचार्य मेतार्य तथा आचार्य प्रभास अपने-अपने तीन सौ शिष्यों के परिवार के साथ महासेन उद्यान पहुँचे और वे सभी निगंठ ज्ञातपुत्र से वाद में पराजित होने के बाद उनके अंतेवासी बन गये। इस प्रकार निगंठ ज्ञातपुत्र ने केवली बनने के बाद मज्झिम पावा के महासेन उद्यान में ग्यारह दिग्गज आचार्यों को वाद में पराजित करके एक ही दिन में ४४११ वेदविद् ब्राह्मणों को अपना शिष्य बना लिया।[1]

जिस प्रकार आचार्य इन्द्रभूति गौतम को उनका प्रथम अनगार शिष्य बनने का गौरव प्राप्त हुआ, उसी प्रकार उनकी प्रथम अनगार शिष्या बनने का गौरव

---

१. गणधरवाद (विशेषावश्यक भाष्य)।

आर्या चन्दना को प्राप्त हुआ जो राजपुत्री होने पर भी एक समय क्रीतदासी का जीवन बिताने के लिए विवश हो गयी थीं और इस प्रकार नारी जाति उस काल में जिस परतंत्रता की हीन दशा को प्राप्त थी उसका प्रतिनिधित्व करती थीं।

आर्या चंदना चम्पा के राजा दधिवाहन की पुत्री थीं। उनकी माता का नाम धारिणी था।[1] माता-पिता ने उनका नाम वसुमती रखा था। उनका शैशव अमित वैभव की गोद में बीता, किंतु बाल्यावस्था में पदार्पण करते ही अनभ्र आकाश से वज्रपात के समान उनके ऊपर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ा। कौशाम्बी के राजा शतानीक से उनके पिता का वैर बहुत दिनों से चला आ रहा था। एक बार राजा दधिवाहन जब अपनी सेना लेकर एक पड़ोसी सामंत राजा की सहायता के लिए गया हुआ था, तब राजा शतानीक को प्रतिशोध लेने का अवसर मिल गया। उसने रातोंरात नावों के बेड़े पर अपनी चतुरंगिणी सेना भेजकर चम्पा नगरी पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। राजा की अनुपस्थिति में चम्पा के सैनिक इस आकस्मिक आक्रमण का सामना नहीं कर सके और वे अपना प्राण बचाने के लिए भाग खड़े हुए। राजा शतानीक के सैनिकों ने चम्पा नगरी को लूटना शुरू कर दिया। एक सुभट राजा दधिवाहन के अंतःपुर में घुस गया और उसकी अप्सरा जैसी सुंदरी रानी धारिणी और उसकी फूल की कली-सी सुकुमार बालिका वसुमती को पकड़ लाया। उसने सोचा—भला लूट में इससे मूल्यवान् और कौन वस्तु प्राप्त हो सकती है। इस सुंदरी को घर ले जाकर अपनी स्त्री बनाऊँगा और इसकी लड़की को बाजार में मुँह माँगे दामों पर बेचकर यथेष्ट द्रव्य उपार्जित कर लूँगा।

रानी धारिणी को जब उस सैनिक के मनोगत कुटिल भावों की सूचना मिली तो उसने अपने शील की रक्षा के लिए अपनी जिह्वा कुचलकर प्राण त्याग दिये। वसुमती मातृ-पितृ-विहीन सर्वथा अनाथ हो गयी। सैनिक ने उसे कौशाम्बी ले जाकर विक्रयार्थ चौराहे पर खड़ा कर दिया और उस पर बोली बोलने लगा।

उसी समय सुवर्णपट्ट से भूषित नगरश्रेष्ठी धनावह उधर से निकला। उसने पारिजात पुष्प की अधखिली कली के समान एक सुंदर बालिका को बिकते देखा। श्रेष्ठी के भवन में अनेकानेक दासियाँ थीं, परंतु इतनी सुंदर बालिका

---

१. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ३१६-२०।

कोई नहीं थी। उसने वसुमती को सबसे ऊँची बोली बोलकर खरीद लिया और घर लाकर उसे अपनी पत्नी को सौंप दिया।

वसुमती श्रेष्ठी धनावह के विपुल धन-धान्य तथा दास-दासियों से युक्त विशाल भवन में चम्पक बेल की भाँति बढ़ने लगी और अपने चंदन के समान शीतल तथा मृदुल शील-स्वभाव के कारण शीतलचंदना अथवा चंदना के नाम से पुकारी जाने लगी।

कालांतर में चंदना युवती हुई। उसके शरीर के सुषुप्त नव अंग (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका-रंध्र, जिह्वा, त्वचा और मन) जाग उठे। उसके अंग-अंग में चपलता थिरकने लगी। उसके शरीर में अतुल रूप-लावण्य का विकास देखकर श्रेष्ठी-पत्नी मूला का मन स्त्री-सुलभ ईर्ष्या के कोठे में पहुँच गया। उसने सोचा—यदि किसी दिन मेरे स्वामी की लुब्ध दृष्टि इस रूपसी दासी पर पड़ गयी तो संभव है उनका मन चलायमान हो जाय और वे इसे मेरी सपत्नी बना लें। इसलिए इस विषलता को फलने-फूलने से पहले ही उखाड़ फेंकना मेरे लिए हितकर होगा। अतः वह चंदना रूपी काँटे को अपने मार्ग से सदा के लिए हटा देने की गुप्त योजनाएँ मन में बनाने लगी।

एक दिन धनावह श्रेष्ठी ग्रीष्म की तपती दोपहरी में बाजार से लौटा। उस समय संयोग से अन्य कोई दासी उपस्थित नहीं थी। अतः चंदना झारी में पानी लेकर उसका पैर धुलाने के लिए दौड़ी।

धनावह श्रेष्ठी चंदना के शीतल मृदुल व्यवहार के कारण उससे पुत्रीवत् स्नेह करने लगा था। चंदना जब उसके पैर धुलाने के लिए झुकी तो उसका जूड़ा खुल गया और उसकी कमर तक लम्बी नागिन जैसी केशराशि जमीन पर बिखर गयी।

उसके केश कहीं कीचड़ से सन न जायें, इस विचार से धनावह श्रेष्ठी ने वात्सल्य भाव से उन्हें अपनी छड़ी से उठा लिया। श्रेष्ठि-पत्नी मूला ऊपर झरोखे से सारा दृश्य देख रही थी। उसके कलेजे पर साँप लोट गया। उसके मन में विचार आया—मैंने जो आशंका की थी वह निराधार नहीं थी। यह साँपिन एक दिन मुझे अवश्य डँस लेगी। इसे अपने मार्ग से हटाने में अब विलम्ब नहीं करना चाहिए।

धनावह श्रेष्ठी जब किसी कार्यवश भवन से बाहर गया तो मूला ने नाई को बुलवाकर चंदना के सिर के बाल अस्तुरे से मुँड़वा दिये और उसके पैरों में बेड़ी डलवाकर उसे तलघर में बंद करवा दिया। उसने सभी दासियों को कड़ा आदेश दे दिया कि वे चंदना के संबंध में स्वामी को कुछ न बतायें।

सायंकाल जब श्रेष्ठी घर लौटा तो उसे चंदना नहीं दिखाई पड़ी। उसने दासियों से पूछा, परंतु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। श्रेष्ठी ने समझा—बच्ची है, शायद सो गयी होगी, अतः कुछ न बोले।

दूसरे दिन श्रेष्ठी ने फिर पूछा, परंतु चंदना के बारे में किसी ने कोई सूचना नहीं दी। तीसरे दिन श्रेष्ठी अधीर हो उठा। उसने सभी दासियों को पंक्तिबद्ध खड़ा करके कसकर फटकारा। तब एक वृद्धा दासी ने वह तलघर दिखा दिया जहाँ चंदना बंद थी।

श्रेष्ठी ने तलघर का द्वार खोलकर तीन दिन की भूखी-प्यासी, बेड़ी में जकड़ी चंदना को बाहर निकाला और उसे भोजन कराने के लिए स्वयं रसोईघर में ले गया। आहार-पानी का समय बीत चुका था और संयोग से उस समय रसोई-घर में कुछ बचा न था। एक सूप में सिर्फ उबले हुए उड़द के कुछ बाकुले रखे थे। श्रेष्ठी ने सूप चंदना के हाथ में देकर उन्हीं बाकुलों से अपनी भूख शांत करने को कहा और उसके पैरों की बेड़ी कटवाने के लिए स्वयं लुहार को बुलाने चल दिया।

पिता-तुल्य धनावह श्रेष्ठी के जाने के बाद चंदना मुंडित सिर, पैरों में बेड़ी पड़ी हुई, तीन दिन की उपासी, सूप के कोने में उबले हुए उड़द के बाकुले लिये द्वार के बीच दहलीज में खड़ी हुई अपने अतीत के ध्यान में खो गयी। वह सोचने लगी—कर्मों की गति कितनी विचित्र होती है। कहाँ वह राजपुत्री के रूप में जन्मी और कहाँ आज इस परतंत्रता की दशा को प्राप्त है। सांसारिक सुख ओस-कण के समान कितने क्षणभंगुर होते हैं। इस जीवन में धर्म ही एक मात्र शरण है। पिता-माता, स्वजन-संबंधी कोई भी जीव का सहायक नहीं होता।

निगंठ ज्ञातपुत्त उस समय कौशांबी में ही विहार कर रहे थे। वह उनका छद्मस्थ काल था। उन्होंने भिक्षा ग्रहण करने के लिए अभिग्रह ले रखा था कि मुंडित सिर, पैरों में बेड़ी पड़ी हुई, तीन दिन की उपासी, सूप के कोने में उबले हुए उड़द के बाकुले लिये द्वार के बीच दहलीज में खड़ी, रोती हुई, दास-वृत्ति को प्राप्त किसी राजकुमारी से भिक्षा लूँगा, अन्यथा अनशन करूँगा। किंतु उनका अभिग्रह पूरा नहीं होता था, फलतः वे ५ महीने २४ दिन से अनशन कर रहे थे। वे प्रतिदिन कौशांबी नगरी के ऊँच, नीच तथा मध्यम कुलों में भिक्षा माँगने आते थे और अभिग्रह पूर्ण न होने पर अम्लान भाव से वापस लौट जाते थे।

इस तरह श्रमणों के सच्चे आचार और वेश के धारी एक तथारूप श्रमण को बिना भिक्षा लिये प्रतिदिन वापस लौट जाते देखकर नागरिक बड़े चकित थे। वे सोचते थे—क्या कारण है कि इस तथारूप श्रमण को भिक्षालाभ नहीं हो रहा है।

एक दिन वह तथारूप श्रमण भिक्षाटन के समय राजा शतानीक के अमात्य सुगुप्त के द्वार पर पहुँचा। सुगुप्त की भार्या नंदा श्रमणोपासिका थी। वह बड़े भाव से भिक्षा देने आयी, परंतु अभिग्रह पूर्ण न होने से श्रमण ज्ञातपुत्र निर्विकार भाव से वापस लौट गये। इससे नंदा बहुत खिन्न हुई। पति ने जब उदासी का कारण पूछा तो उसने उलाहना दिया—आपके अमात्य होने से क्या लाभ ? एक तथारूप श्रमण को अभिग्रह पूर्ण न होने के कारण कई मास से लगातार अनशन करना पड़ रहा है। क्या आप इतना भी पता नहीं लगा सकते कि उनका कौन-सा अभिग्रह पूरा नहीं हो रहा है ?

राजा शतानीक के अंतःपुर की प्रतिहारी विजया उस समय वहीं खड़ी थी। उसने सारी कथा अपनी स्वामिनी रानी मृगावती को सुनायी। कौशांबी-नरेश की यह महिषी मृगावती वैशाली गणराज्य के गणराजा चेटक की, जिनका कुल दीर्घकाल से निगंठ श्रमणों का उपासक था, तीसरी पुत्री थी। मृगावती को भी यह समाचार सुनकर भारी आकुलता हुई। उसने राजा शतानीक से चर्चा की। राजा ने प्रिया को आश्वासन दिया कि वे पता लगायेंगे कि तथारूप श्रमण का कौन सा अभिग्रह पूर्ण न होने के कारण भिक्षालाभ नहीं हो रहा है।

राजा शतानीक ने अमात्य-परिषद् की बैठक में अपने तथ्यवादी नामक उपाध्याय से पूछा, परंतु उन्हें निगंठ श्रमणों की तपस्या-विधि के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी। तब सुगुप्त अमात्य ने बताया कि निगंठ श्रमण भिक्षाचर्या को भी बाह्य तप का एक रूप मानने के कारण कितने प्रकार के अभिग्रह धारण कर लेते हैं। राजा ने डुग्गी पिटवाकर इन सभी नियमों की जानकारी समस्त प्रजा को करा दी, फिर भी तथारूप श्रमण को भिक्षालाभ नहीं हुआ।

प्रतिदिन की भाँति नगर के ऊँच, नीच तथा मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या करते हुए निगंठ ज्ञातपुत्र उस दिन जब संयोगवश धनावह श्रेष्ठी के द्वार पर पहुँचे तो उन्होंने सिर से मुंडित, पैरों में बेड़ी पड़ी हुई, तीन दिन की उपासी, सूप के कोने में उबले हुए उड़द के बाकुले लिये, रूप-रंग से राजपुत्री तथा वेश से दासी के समान दिखाई पड़नेवाली चंदना को द्वार के बीच दहलीज में खड़े देखा। वे द्वार के भीतर चले आये और पहले चंदना और फिर सूप में रखे

वाकुलों को देखा। किंतु उनके अभिग्रह के पूर्ण होने में अभी एक न्यूनता रह गयी थी, इसलिए वे अम्लान भाव से लौट पड़े।

तभी चंदना की आँखों में आँसू छलछला आये। उसे अपने दुर्भाग्य पर रोना आ गया। वह सोचने लगी—अभी उसके पाप कर्मों की निर्जरा नहीं हुई, तभी वह एक तथारूप श्रमण को भिक्षा लाभ कराने के पुण्य से वंचित रह गयी।

चंदना को रोती देखकर निगंठ ज्ञातपुत्र लौट पड़े। ५ महीने २५ दिन के अनशन के बाद अंत में उनके अभिग्रह की पूर्ति हो गयी। उन्होंने चंदना के हाथों उड़द के वाकुलों की भिक्षा ग्रहण करके अपने पाँच दिन कम छहमासी तप को पूर्ण किया।

सारे नगर में इस घटना की चर्चा होने लगी। राजा शतानीक भी चंदना के सौभाग्य पर उसे वधाई देने के लिए अपने रनिवास के सहित धनावह श्रेष्ठी के भवन में पधारे। रानी मृगावती उस दासी बाला का दर्शन करने के लिए वहुत उत्सुक थी, जिसके हाथों तथारूप श्रमण को भिक्षालाभ हुआ था।

राजा दधिवाहन का एक कंचुकी अव राजा शतानीक की सेवा में था। उसने चंदना को देखते ही पहचान लिया और वोला—देव, यह तो राजा दधि-वाहन की पुत्री राजकुमारी वसुमती है।

इस सूचना ने सभी को चमत्कृत कर दिया। रानी मृगावती के छह वहिनें थीं। उनकी दूसरी वहिन पद्मावती राजा दधिवाहन को व्याही थी। इस प्रकार यह वाला उनकी वहिन की सौत की पुत्री होने के कारण उनकी भांजी लगती थी। मृगावती ने तत्काल 'अरे यह तो मेरी वहिन की लड़की है' कहकर चंदना को गले से लगा लिया।

राजा शतानीक और रानी मृगावती बड़े आदर के साथ चंदना को अपने साथ ले गये और उसे अपने कन्या-अंतःपुर में रख दिया।

आर्या चंदना ने अपने जीवन में फेन के वुलवुले की भाँति सांसारिक सुखों की अनित्यता पूर्ण रूप से अनुभव कर ली थी, अतएव राजप्रासाद में रहने पर भी वह विरक्त जीवन विताने लगी। जब उसे निगंठ ज्ञातपुत्र के केवली होने की सूचना मिली तो उसने सबसे पहले उनके पादमूल में पहुँचकर निर्ग्रन्थी दीक्षा ग्रहण कर ली।

●

५

प्राचीन जनश्रुतियों के अनुसार निगंठ ज्ञातपुत्र ने कैवल्य-प्राप्ति के ६६ दिन बाद श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर अपने पृथक् तीर्थ 'मार्ग' की स्थापना की,[१] जिसके बाद वे तीर्थंकर के रूप में विख्यात हुए। तीर्थंकर बनने के बाद वे अपने शिष्यों द्वारा श्रमण भगवान् महावीर के नाम से संबोधित किये जाने लगे।

मगध की राजधानी राजगृह उन दिनों भारत की राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक हलचलों का मुख्य केंद्र थी। यह नगरी पाँच पर्वतों से घिरी थी जो क्रमशः ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुलाचल, चंद्राचल तथा पांडुगिरि कहलाते थे। इनमें से ऋषिगिरि राजधानी के पूर्व में स्थित था और चौकोर आकार का था। वैभारगिरि दक्षिण दिशा में तथा विपुलाचल दक्षिण-पश्चिम के मध्य में स्थित था। दोनों पर्वत त्रिकोणाकार थे। पश्चिम, उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर दिशा में धनुषाकार चन्द्राचल तथा उत्तर-पूर्व के मध्य में गोलाकार पांडुगिरि स्थित था। सभी पर्वत फल-पुष्प से आच्छादित थे। इन पाँचों पर्वतों में प्राकृतिक सुषमा तथा शोभा की दृष्टि से विपुलाचल विशेष चित्ताकर्षक और सबसे ऊँचा था।[२]

इसी विपुलाचल पर निगंठ ज्ञातपुत्र का प्रथम प्रवचन हुआ जिसमें प्रधान श्रोता के रूप में मगधराज श्रेणिक अपनी रानी चेलना सहित उपस्थित था। निगंठ ज्ञातपुत्र के इसी प्रवचन से उनके तीर्थ की उत्पत्ति मानी जाती है।

---

१. तिलोयपण्णत्ती १।६८-६९ तथा षट्खंडागम पु० १, पृ० ६२-६३।

२. बौद्धागमों में राजगृह नगर को घेरनेवाले पाँच पर्वतों के नाम इस प्रकार मिलते हैं: १. गृद्धकूट, २. वैभारगिरि, ३. विपुलाचल, ४. पांडवगिरि तथा इसीगिली (ऋषिगिरि)। ऋषिगिरि के अंचल में ही एक काला शिलाखंड था जिससे मृत्युदंड पाये हुए बंदियों को गिरा कर मार डाला जाता था। संभवतः इसी कारण इस शिलाखंड को कालशिला के नाम से पुकारा जाता था। इस कालशिला पर निगंठ श्रमण नाना प्रकार की तपस्या में रत रहते थे। श्रमण भगवान् बुद्ध प्रायः गृद्धकूट पर्वत पर ठहरा करते थे। इससे उत्तर की दिशा में विपुलाचल था जहाँ निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपना प्रथम प्रवचन किया।

उन्होंने अपना यह प्रवचन उस काल की लोकभाषा में किया, जो मगध से लेकर शूरसेन तक प्रचलित थी और बाद में अर्धमागधी के नाम में विख्यात हुई।

निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपना प्रथम प्रवचन इस त्रिपदी से आरम्भ किया : उप्पनेइ वा विगएइ वा धुवेइ वा। अर्थात् वह उत्पन्न होता है, विगम (व्यय अथवा नष्ट) होता है और ध्रुव रहता है।

इस त्रिपदी में उन्होंने द्रव्य अथवा पदार्थ की (जिसे अनेक दार्शनिक तत्त्व अथवा सत् भी कहते थे) सर्वथा मौलिक परिभाषा प्रस्तुत की—द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त अर्थात् त्रिलक्षणात्मक होता है। उसकी अवस्था सदा बदलती रहती है, जिसकी सूचना उसके उत्पाद और व्यय से मिलती है। किंतु गुण-रूप में वह ध्रुव बना रहता है। गुण तथा पर्याय को द्रव्य से अलग नहीं किया जा सकता। किसी द्रव्य का न तो सर्वथा विनाश होता है और न वह सर्वथा नवीन उत्पन्न होता है। उत्पाद और व्यय में भी वह तद्भाव रूप सदा बना रहता है।

उन्होंने अपने युग के अन्य दार्शनिकों की भाँति द्रव्य को कूटस्थ, नित्य नहीं माना, क्योंकि उस अवस्था में उसमें तनिक भी परिवर्तन सिद्ध नहीं हो सकेगा और क्रिया कार्यकारी नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार उन्होंने कुछ अन्य दार्शनिकों की भाँति द्रव्य को नित्य अथवा क्षणिक मानने से भी इंकार कर दिया, क्योंकि उस अवस्था में उसमें तनिक भी एकरूपता नहीं सिद्ध हो सकेगी और पूर्व क्षण का उत्तर क्षण के साथ कोई संबंध घटित नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्होंने दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि द्रव्य न तो एकांत रूप से नित्य है और न अनित्य। यदि गुण की दृष्टि से वह नित्य माना जा सकता है तो पर्याय की दृष्टि से अनित्य। इस प्रकार उसे नित्यानित्य उभयात्मक मानना चाहिए।

मिट्टी के पिंड से घट बनता है। तब घट पर्याय की उत्पत्ति होती है, पिंड पर्याय का विगम (व्यय अथवा नाश) होता है, परंतु मिट्टी दोनों अवस्थाओं में तद्भाव रूप बनी रहती है। सोने के पिंड से पहले गेंद बनाया जाता है और फिर उसे तोड़कर मुकुट बना लिया जाता है। तब भी उसके पूर्व पर्याय का व्यय और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है, किंतु द्रव्य रूप सोना दोनों पर्यायों में ध्रुव बना रहता है।

निगंठ ज्ञातपुत्र ने प्रतिपादित किया कि इस जगत् में पाये जानेवाले सभी द्रव्यों पर यही नियम लागू होता है। अपनी इसी स्थापना के आधार पर उन्होंने

अपने युग में चलने वाले नाना दार्शनिक विवादों का तर्कसम्मत समाधान प्रस्तुत किया और लोक को शाश्वत (कूटस्थ नित्य) भी सिद्ध किया और अशाश्वत (अनित्य, क्षणिक) भी, सान्त भी और अनंत भी।

निगंठ ज्ञातपुत्र ने भी सांख्य आदि की भाँति लोक को अकृत्रिम माना। इस लोक को न तो किसी ने उत्पन्न किया है और न इसका कभी अंत हो सकता है। यह अपने नियमों से परिचालित है और अनादि अनंत है। यदि इसका कोई कर्त्ता माना जायगा तो प्रश्न उठेगा कि उसे शरीरी कहा जाय या अशरीरी। यदि उसे शरीरी माना जायगा तो फिर प्रश्न उठेगा कि उसके शरीर का निर्माण किसने किया और यदि अशरीरी माना जाय तो प्रश्न उठेगा कि शरीरादि उपादान कारणों के बिना उसने लोक का निर्माण किस प्रकार किया?

निगंठ ज्ञातपुत्र इस लोक को जड़ और चेतन—अजीव और जीव द्रव्यों का विस्तार मानते थे। इस लोक में जितना भी रूपी पदार्थ इंद्रिय-प्रत्यक्ष है उसे वे पुद्गल कहते थे। पुद्गल परमाणुओं का पुंज होता है और अत्यंत स्थूल भी होता है और अत्यंत सूक्ष्म भी। किसी वस्तु को यदि तोड़ा जाय तो उसका सबसे छोटा विभाग, जिसे फिर तोड़ा न जा सके, परमाणु कहलाता है। परमाणु चाक्षुष नहीं होता, किंतु दो या अधिक परमाणुओं के मिलने से स्कंध रूप में वह चाक्षुष होता है।

पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति पुद् तथा गल से मानी जाती है। पुद् का अर्थ है पूरण अर्थात् वृद्धि तथा गल का अर्थ है गलन अर्थात् ह्रास। अतएव जो जड़ पदार्थ वृद्धि तथा ह्रास के द्वारा अर्थात् परमाणुओं के मिलने तथा अलग होने से नाना आकार धारण कर लेता है, उसे वे पुद्गल कहते थे।

पुद्गल अथवा उसका परमाणु रूप, रस, गंध तथा स्पर्श से युक्त होता है। स्पर्श की दृष्टि से वह मदु, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है। रस की दृष्टि से वह तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर अथवा कसैला होता है। गंध की दृष्टि से वह सुगंध अथवा दुर्गंधयुक्त होता है। वर्ण की दृष्टि से वह नीला, पीला, श्वेत, काला अथवा लाल होता है।

निगंठ ज्ञातपुत्र मनुष्य-शरीर को ही नहीं, प्रकाश, छाया, अंधकार, आतप, ध्वनि आदि को भी पुद्गल मानते थे, क्योंकि ये सभी इंद्रियों के विषय बनते हैं। पुद्गल को रूप, रस, गंध तथा स्पर्श से युक्त सिद्ध कर देने के कारण उनके लिए अपने युग के अन्य दार्शनिकों की भाँति पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु को

पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी, क्योंकि इन सबके गुण पुद्गल द्रव्य में मिल जाते हैं ।

जड़ द्रव्य को चेतन द्रव्य से पृथक् माना जाय अर्थात् अजीव को जीव से भिन्न माना जाय या अजीव से ही जीव की उत्पत्ति मानी जाय ? उस युग के अनेक भूतवादी दार्शनिकों की मान्यता थी कि जीव या आत्मा का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है । जीव या आत्मा देह का ही दूसरा नाम है । जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वस्तुओं में मादकता न होने पर भी उनके समुदाय में मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु, इन चार भूतों के मिलने से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न हो जाता है और कालांतर में भूतों के साथ नष्ट हो जाता है ।

किंतु निगंठ ज्ञातपुत्त ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया और देह से आत्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध की । उन्होंने तर्क किया कि जिन वस्तुओं के संयोग से मादकता उत्पन्न होती है, उनमें पृथक्-पृथक् रूप में मादकता का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य वर्तमान रहता है, अन्यथा बालू के कणों से भी तेल की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? अतएव जिन भूतों के समुदाय से विज्ञान (चैतन्य) की उत्पत्ति मानी जाती है, उनमें पृथक-पृथक रूप में भी विज्ञान का सद्भाव मानना पड़ेगा । इस विज्ञान का आश्रय जीव या आत्मा ही हो सकता है ।

निगंठ ज्ञातपुत्र की मान्यता थी कि जीव अथवा आत्मा के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए ठीक उसी प्रकार किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, जिस प्रकार सुख-दुःखादि की सिद्धि स्वसंवेदन के आधार पर होती है, उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

'मैंने किया है,' 'मैं कर रहा हूँ,' 'मैं करूँगा'—भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल में 'मैं' का यह प्रयोग सिद्ध करता है कि इस 'अहं' प्रत्यय के त्रैकालिक अस्तित्व का कोई आधार होना चाहिए । भूतों में यह शक्ति नहीं कि वे 'अहं' प्रत्यय को उत्पन्न कर सकें, क्योंकि अहं-प्रत्ययपूर्वक ही जड़-प्रतीति होती है, जड़ से अहं की प्रतीति नहीं होती । अतएव अहं की पृथक् सत्ता माननी होगी ।

स्मृति, प्रत्यक्ष दर्शन तथा स्मृति के आधार पर उत्पन्न होनेवाला प्रत्यभिज्ञान संशय, निर्णय आदि मानसिक क्रियाएँ एक चेतन तत्त्व के आधार पर ही घटित हो सकती हैं । ज्ञान, संवेदन और इच्छा, इन तीनों क्रियाओं में जो अन्वय, एकरूपता एवं व्यवस्था लक्षित होती है वह एक ही तत्त्व के आधार पर संभव

है। 'जीव नहीं है,' इस संशय के लिए भी किसी अधिष्ठान की आवश्यकता है। यदि संशयी जीव नहीं है तो 'मैं हूँ या नहीं,' यह संशय किसे होगा ?

यदि यह कहा जाय कि ज्ञानादि गुणों को शरीराश्रित क्यों न मान लिया जाय ? जैसे शरीर में मोटाई, दुबलापन आदि गुण होते हैं वैसे ही ज्ञानादि गुण भी होते हैं। किंतु ज्ञानादि गुण अरूपी होते हैं, वे रूपी शरीर के गुण नहीं माने जा सकते, क्योंकि रूपी घटादि के गुण भी रूपी होते हैं, अरूपी नहीं। यदि ज्ञानादि गुण शरीर के हैं तो वे मृत शरीर में क्यों नहीं लक्षित होते, अथवा सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में शरीर के रहते हुए क्यों नहीं प्रकट होते ? अतएव ज्ञानादि गुणों का आश्रय शरीर से भिन्न मानना होगा।

यदि ज्ञानादि गुण इंद्रियों के माने जायेंगे तो इंद्रियों का विनाश हो जाने पर, जैसे किसी मनुष्य के अंधा हो जाने पर, पूर्व में देखे हुए पदार्थों की स्मृति क्यों बनी रहती है और कभी-कभी इंद्रियाँ होते हुए भी, जैसे मनुष्य के अन्य-मनस्क होने पर, ज्ञान की प्राप्ति क्यों नहीं होती ? एक इंद्रिय से प्राप्त विषय को दूसरी इंद्रिय कैसे ग्रहण कर लेती है, जैसे एक खिड़की से घटादि को देखने वाला देवदत्त उसे दूसरी खिड़की से ग्रहण कर लेता है ?

यदि यह माना जाय कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द, इन पाँच विज्ञानों को जाननेवाले पाँच व्यक्ति हैं तो उन सब विज्ञानों को एक साथ जाननेवाले छठे व्यक्ति को भी ठीक उसी प्रकार अस्तित्ववान् मानना होगा जिस प्रकार पाँच खिड़कियों से देखनेवाला छठा देवदत्त उन खिड़कियों से भिन्न होता है, क्योंकि उन खिड़कियों के बंद होने पर भी वह देखी गयी वस्तुओं का स्मरण रखता है और खिड़कियाँ खुली होने पर भी अन्यमनस्क होने पर कुछ नहीं देखता।

इंद्रियों और विषयों में सँड़सी और लोहे की भाँति आदान-आदेय संबंध स्वीकार कर लेने पर आदाता लोहार की भाँति आत्मा को भी अस्तित्ववान् मानना पड़ेगा। अथवा जो वस्तु संघात रूप होती है, उसका स्वामी अवश्य होता है, जैसे गृह का स्वामी गृहपति होता है। इसी प्रकार इंद्रियों के स्वामी आत्मा को भी स्वीकार करना होगा।

जो शब्द व्युत्पत्तिमूलक तथा शुद्ध-पद होता है, उसका वाच्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ डित्थ शब्द इसीलिए निरर्थक माना जाता है क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति नहीं सिद्ध की जा सकती। इसी प्रकार आकाशकुसुम व्युत्पत्तिमूलक होने पर भी शुद्ध-पद न होने से निरर्थक है। किंतु जीव शब्द को डित्थ अथवा आकाशकुसुम की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वह व्युत्पत्तिमूलक तथा शुद्ध

पद है। अतएव उसका वाच्यार्थ आत्मा ही हो सकता है, देह नहीं। प्रतिषेध से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार 'घट नहीं है' कहने से सिद्ध होता है कि 'कहीं पर घट का अस्तित्व अवश्य है', उसी प्रकार अजीव में जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त का सारा तत्त्व-दर्शन मूर्त देह (पुद्गल) और अमूर्त आत्मा (जीव) के पृथक् अस्तित्व की इसी मान्यता पर आधारित था। वे पुद्गल और जीव के अतिरिक्त इस लोक में तीन और अमूर्त द्रव्यों को अस्तित्ववान् मानते थे और इन सबको अस्तिकाय कहते थे। वे अस्ति का अर्थ करते थे होना और काय का अर्थ स्थान को घेरना। जो भी रूपी या अरूपी द्रव्य अस्तित्ववान् होता है, आकाश में कुछ-न-कुछ स्थान अवश्य व्याप्त करता है। वे जिस प्रकार पुद्गल का सबसे छोटा विभाग परमाणु करते थे, उसी प्रकार आकाश का सबसे छोटा विभाग प्रदेश करते थे। एक परमाणु जितने स्थान को घेरता है उसे वे उसका प्रदेश मानते थे। इस लोक के सभी रूपी तथा अरूपी द्रव्यों के अस्तित्ववान् तथा प्रदेशयुक्त होने के कारण वे उन्हें अस्तिकाय कहते थे।

पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय के अतिरिक्त वे इस लोक के विस्तार में एक अस्तिकाय को गति का माध्यम तथा दूसरे अस्तिकाय को स्थिति का माध्यम मानते थे। ये दोनों अस्तिकाय भी अरूपी होते हैं। उन्होंने अनुमान किया कि जैसे जल मछलियों के गमन में सहायक होता है, उसके अभाव में वे गति नहीं कर पातीं, उसी प्रकार इस लोक में जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति-शीलता में सहायक कोई अखंड द्रव्य होना चाहिए, अन्यथा उसके अभाव में गति संभव नहीं हो सकेगी। उन्होंने गति में सहायक इस अरूपी अजीव द्रव्य को धर्मास्तिकाय की संज्ञा दी।

धर्मास्तिकाय के आधार पर उन्होंने इस लोक में अधर्मास्तिकाय को भी अस्तित्ववान् सिद्ध किया। जब इस लोक में गति में सहायक अखंड द्रव्य सत्तावान है तब एक ऐसे अखंड द्रव्य की सत्ता भी स्वीकार करनी होगी जो स्थिति में उसी प्रकार सहायक हो जैसे वृक्ष की छाया पथिकों को ठहराने में सहायक होती है। अधर्मास्तिकाय के अभाव में इस लोक में जीव और पुद्गल सदा गतिशील बने रहेंगे, कभी स्थिर न हो सकेंगे।

पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय को अवकाश देनेवाले द्रव्य को उन्होंने आकाश की संज्ञा दी। आकाश को भी

सत्तावान् तथा अनंत प्रदेश से युक्त होने के कारण वे अस्तिकाय कहते थे। यह भी अरूपी होता है। वे इस लोक में पृथ्वी का आधार जल, जल का आधार वायु, वायु का आकाश और आकाश को स्व-धृत मानते थे।

घट और अघट के दृष्टांत की भाँति वे लोक के विपक्ष अलोक को भी सत्तावान् मानते थे। अस्तिकाय परिमाणयुक्त होता है, अतएव लोक का भी परिमाण मानना होगा। वे लोक का परिमाण वहीं तक मानते थे जहाँ तक जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय का सद्भाव है। उसके बाद वे अलोक का विस्तार मानते थे। आकाश लोक तथा अलोक दोनों को अवकाश देता है, इसलिए वे उसके दो विभाग करते थे—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। लोक-अलोक की अपनी इसी परिभाषा के आधार पर वे लोक को सान्त भी कहते थे और अनंत भी।

वे लोकाकाश के अंतर्गत असंख्यात जीवों का अस्तित्व मानते थे। वे पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु, इन चार भूतों को भी सचेतन मानते थे। वृक्ष नारी के समान जन्म, जरा, जीवन, मरण, आहार, दोहद, व्याधि और रोग-मुक्ति के लक्षणों से युक्त होते हैं। छुईमुई का पौधा (स्पृष्टप्ररोदिका) स्पर्श करने पर कीड़ों की भाँति सिकुड़ जाता है। वल्लरियाँ आश्रय की खोज में सजीव प्राणियों की भाँति स्वतः आश्रयी वृक्ष की ओर गति करती हैं। शमी आदि वृक्ष सोते और जागते हैं। बकुल, अशोक, विरहक, चम्पक आदि वृक्ष ऋतु आने पर रूप, रस, गंध और स्पर्श का बोध प्राणियों की भाँति करते हैं। कूष्मांडी, बीजपूरक आदि वृक्षों में गर्भिणी स्त्रियों के समान इच्छा उत्पन्न होती है।

तरु, विद्रुम, लवण, पत्थर जब तक अपने उत्पत्ति स्थान पर रहते हैं तब तक उनमें ठीक उसी प्रकार पुनः-पुनः अंकुर निकला करते हैं जिस प्रकार बवासीर रोग में मांस पुनः-पुनः निकल आता है।

पृथ्वी को खोदने से जल प्राकृतिक रूप से मेंढ़क के समान उछल पड़ता है अथवा आकाश में स्वतः बादल बनकर पृथ्वी पर गिरने लगता है। अतः वे उसे भी जल में रहनेवाली मछली के समान सचेतन मानते थे।

वायु बिना दूसरों से प्रेरणा प्राप्त किये, गाय की भाँति तिरछी चाल से अनियमित दिशाओं में गमन करता है, अतएव वे उसे भी गाय के समान सचेतन मानते थे।

इसी प्रकार अग्नि मनुष्यों की भाँति आहार मिलने से वृद्धि तथा न मिलने से ह्रास को प्राप्त होती है, अतएव वे उसे भी मनुष्य की भाँति सचेतन मानते थे।

इसी आधार पर वे जीवों का वर्गीकरण पृथ्वीकाय (मिट्टी, कंकड़, पत्थर, पथरीला लोहा, सोना, ताँबा, चाँदी, हीरा आदि), वनस्पतिकाय (वृक्ष, लता आदि), जलकाय (जल, ओसकण, कोहरा आदि), वायुकाय (घनी हवा, पतली हवा, तेज हवा, धीमी हवा आदि) तथा अग्निकाय (अग्नि, बिजली, दीपक आदि) में करते थे। इन सभी में वे चार प्रारंभों का अस्तित्व मानते थे : स्पर्शन इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुबल तथा कायबल।

मनुष्यों को छोड़कर वे सभी प्राणियों को तिर्यंच जीवों की कोटि में रखते थे। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रवण—इन पाँच इन्द्रियों के आधार पर वे उनका वर्गीकरण एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अग्निकाय आदि), द्वीन्द्रिय (कीट, सीप, घोंघा आदि), त्रीन्द्रिय (खटमल आदि), चतुरिन्द्रिय (मक्खी, मच्छर आदि) तथा पंचेन्द्रिय (स्थलचर, जलचर तथा नभचर) जीवों में तथा मन (संज्ञा) के आधार संज्ञी और असंज्ञी जीवों में करते थे। वे मनुष्यों में दस प्राणों का अस्तित्व मानते थे—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण, ये पाँच इंद्रियबल, श्वासोच्छ्वास, कायबल, आयुबल, वचनबल तथा मनोबल। मनुष्यों से इतर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में भी वे दस प्राणों का अस्तित्व मानते थे। शेष तिर्यंच जीवों में वे क्रमिक रूप से चार, छह, सात, आठ तथा नौ प्राणों का अस्तित्व मानते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त की अनेक स्थापनाएँ उनके युग की प्रचलित मान्यताओं पर आधारित थीं, जिनको उन्होंने भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के बाद स्वीकार कर लिया था। उदाहरण के लिए उनकी कर्म, पुनर्जन्म तथा परलोक संबंधी स्थापनाओं को ले लिया जाय। उस काल में सामान्य रूप से यह धारणा प्रचलित थी कि कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता तथा प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। जो जैसा कर्म करता है उसको वैसा फल अवश्य मिलता है। पुण्य कर्म करने से पुण्य फल तथा पाप कर्म करने से पाप फल की प्राप्ति होती है। लोग देवों, भूत-प्रेतों तथा परलोक के अस्तित्व में सहज विश्वास करते थे। सूर्य और चंद्रमा प्रत्यक्ष देव माने जाते थे। विद्या, मंत्रादि के द्वारा फल की सिद्धि होने से अन्य देवों को भी अस्तित्ववान् माना जाता था। ग्रह-विकार (भूत-प्रेतादि) से ग्रस्त मनुष्यों के असाधारण कृत्यों को देखकर देवों तथा भूत-प्रेतों में

सहज विश्वास किया जाता था। अनेक मनुष्य अपने पूर्वजन्म का स्मरण करते देखे जाते थे। इस आधार पर परलोक को भी अस्तित्ववान् माना जाता था। लोग स्वर्गलोक की कामना दानादि पुण्य कर्म से करते थे और नरक के दुःखों के भय से विरत रहते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने द्रव्य की अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाली परिभाषा के आधार पर मनुष्य के आत्मा को जन्म-मरणशील होने पर भी अनश्वर सिद्ध करके पुनर्जन्म संबंधी स्थापनाओं के लिए बुद्धिगम्य आधार प्रस्तुत कर दिया। घट, पट आदि की भाँति जीव (आत्मा) भी उत्पाद (जन्म) और व्यय (मरण) के बीच ध्रुव बना रहता है, अतएव यह मानना पड़ेगा कि जैसे अन्य द्रव्यों के पर्याय बदलते रहते हैं, किंतु द्रव्य की सत्ता तद्भाव रूप में बनी रहती है, उसी प्रकार जीव बार-बार जन्म लेता और मरता है, परंतु उसकी सत्ता नष्ट नहीं होती।

जीव एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर कैसे धारण करता है? इस संसार में कोई प्राणी सुख और कोई दुःख का उपभोग क्यों करता है? इस संसार-वैचित्र्य और वैविध्य का कारण क्या है? निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने युग के अनेक तत्त्वचिंतकों की भाँति इन सबका कारण कर्म माना।

इस संसार में बीज और अंकुर की भाँति प्रत्येक कार्य का कोई अदृष्ट कारण होता है। अतएव मनुष्य के सुख-दुःखादि के लिए भी कोई अदृष्ट कारण होना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि सुख की प्राप्ति करानेवाले माला, चंदनादि तथा दुःख की प्राप्ति करानेवाले कंटक, सर्पविषादि दृष्ट कारणों के वर्तमान होते हुए अदृष्ट कारण की क्यों कल्पना की जाय, तो प्रश्न उठेगा कि समान हेतु होने पर भी उनका भिन्न-भिन्न फल क्यों दिखाई पड़ता है? उदाहरणार्थ जो माला मनुष्य के लिए सुखकारी होती है वही कुत्ते के लिए दुःखकारी क्यों होती है? अतएव माला को सुख-दुःख का कारण नहीं माना जा सकता। उसका कोई अदृष्ट कारण मानना होगा।

यदि यह कहा जाय कि जैसे बादलों के वैचित्र्य का कोई हेतु नहीं होता, वैसे ही संसार-वैचित्र्य तथा वैविध्य का कोई हेतु नहीं है। जिस प्रकार काँटों का नुकीलापन अथवा पशु-पक्षियों का वैचित्र्य स्वभावतः होता है, उसी प्रकार प्राणी का भी माता के गर्भ में प्रवेश करना, बाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभाशुभ भावों का भोग करना स्वभावतः घटित होता है। तब प्रश्न उठेगा कि स्वभाव क्या है? यदि उसे वस्तु माना जाय तो क्या वह आकाशकुसुम की भाँति अस्तित्वहीन

नहीं माना जायगा ? यदि कहा जाय कि उसका अस्तित्व तो है, परंतु वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है, तो कर्म को ही स्वभाव का दूसरा नाम क्यों न मान लिया जाय ? यदि दूध की भाँति स्वभाव को मूर्त माना जाय तो दूध के परिणामी (परिवर्तनशील) होने से स्वभाव में सादृश्य कैसे सिद्ध होगा ? यदि उसे अमूर्त माना जाय तो वह मूर्त शरीर को कैसे उत्पन्न करेगा ? यदि उसे निष्का-रणता माना जाय तो क्या बिना कारण उसमें असादृश्य की उत्पत्ति नहीं माननी पड़ेगी ? यदि उसे वस्तुधर्म माना जाय तो वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त होने के कारण सतत परिवर्तनशील होती है। तब भी स्वभाव में सादृश्य संभव नहीं हो सकेगा। अतएव स्वभाव संसार-वैचित्र्य का कारण नहीं माना जा सकता।

यदि कहा जाय कि मनुष्य प्रायः दृष्ट फलवाली क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, अदृष्ट फलवाली क्रियाओं में नहीं। जिस प्रकार कृषि का दृष्ट फल अन्नोत्पादन होता है, उसी प्रकार अन्य क्रियाओं का फल भी दृष्ट मानना चाहिए, अदृष्ट नहीं। दानादि का दृष्ट फल मनःप्रसाद माना जा सकता है, अतएव उसका अदृष्ट फल कर्म मानने की क्या आवश्यकता है ? किंतु मनःप्रसाद भी तो एक क्रिया है, अतएव उसका भी कोई फल होना चाहिए। वही फल कर्म है।

जिस प्रकार वृद्ध शरीर से पूर्व युवा शरीर तथा युवा शरीर से पूर्व बाल शरीर होता है, उसी प्रकार जन्मजात बालक का भी कोई पूर्व शरीर मानना होगा ! वह कर्म हो सकता है और इसे कार्मण शरीर कहा जा सकता है। यदि कार्मण शरीर न माना जाय तो मरणकाल में स्थूल शरीर से विमुक्त होने पर जीव दूसरे भव का स्थूल शरीर कैसे प्राप्त कर सकेगा ?

निगंठ ज्ञातपुत्त के युग में दार्शनिकों में विश्व-वैचित्र्य तथा वैविध्य के संबंध में अनेक धारणाएँ प्रचलित थीं। कालवादी मानते थे कि विश्व की समस्त वस्तुएँ तथा प्राणियों के सुख-दुःख कालाश्रित हैं। काल ही सब भूतों की सृष्टि करता है तथा उनका संहार करता है। काल ही प्राणियों के समस्त शुभाशुभ परिणामों का जनक है। मूँग का पकना अनुकूल काल के बिना संभव नहीं होता, चाहे अन्य सामग्री उपस्थित क्यों न हो। इसी प्रकार संसार की समस्त घटनाओं का कारण काल है।

स्वभाववादियों की मान्यता थी कि स्वभाव के अतिरिक्त विश्व-वैचित्र्य का और कोई कारण नहीं है। स्वभाव बिना मूँग का पकना संभव नहीं होता, भले ही काल आदि उपस्थित क्यों न हों। संसार में किसी स्वभाव-विशेषवाले कारण के अभाव में किसी कार्य-विशेष की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती है। यदि मिट्टी

में घड़ा बनाने का स्वभाव न हो तो कैसे कहा जायगा कि मिट्टी से घट की उत्पत्ति संभव है, पट की नहीं; अतएव संसार की सब घटनाओं का कारण स्वभाव है।

नियतिवादियों की मान्यता थी कि जो होना होता है, वह अवश्य होता है। मनुष्य केवल अपने अज्ञान के कारण सोचता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ। अनागत भविष्य उतना ही सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनीय है जितना भूत। जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से, जिस रूप में उत्पन्न होना होता है, वह वस्तु उस समय, उस कारण से, उस रूप में निश्चित रूप में उत्पन्न होती है। संसार की सब वस्तुएँ नियत रूप की होती हैं, अतः नियति को ही उनका कारण मानना चाहिए। नियति के बिना कोई कार्य नहीं होता, भले ही काल आदि समान कारण क्यों न उपस्थित हों।

यदृच्छावादियों की मान्यता थी कि बहुधा कारण-विशेष के बिना कार्य-विशेष की उत्पत्ति हो जाती है। जिस प्रकार काँटों की तीक्ष्णता का कोई निमित्त-विशेष नहीं है, उसी प्रकार भावों की उत्पत्ति भी किसी हेतु-विशेष के अभाव में माननी चाहिए। भूतवादियों की मान्यता थी कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार भूतों से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इस जगत् में इन भूतों के अतिरिक्त अन्य कोई जड़ अथवा चेतन पदार्थ विद्यमान नहीं है। आत्मा को भौतिक शरीर से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत पंच-भूतवादियों की मान्यता थी कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश इन पंच भूतों के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होने पर जीव की उत्पत्ति होती है और शरीर के साथ उसका भी नाश हो जाता है।

पुरुषवादियों में कुछ की मान्यता थी कि जैसे मकड़ी जाले के लिए अथवा वटवृक्ष जटाओं के लिए हेतुभूत है, वैसे ही ब्रह्म संसार के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के लिए निमित्तभूत है। ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों का उपादान कारण है। अन्य विचारकों की मान्यता थी कि ईश्वर संसार की समस्त घटनाओं का निमित्त कारण है। जड़ और चेतन पदार्थ उपादान कारण हैं जिनका नियंत्रक और नियामक ईश्वर है। दैववादियों की मान्यता थी कि प्राणी अपने कर्माधीन है। उसे असहाय होकर अपने पूर्व कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वह इन कर्मों को न तो शीघ्र या देर से भोग सकता है और न उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन कर सकता है। जिस समय जिस कर्म का जिस रूप में फल भोगना नियत होता है, उस समय उसका उसी रूप में फल भोगना पड़ता है। पुरुषार्थवादियों की मान्यता थी कि इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति बुद्धिपूर्वक

प्रयत्न करने से होती है। नियति अथवा दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। प्राणी अपनी बुद्धि एवं शक्ति के साथ जैसा प्रयत्न करता है वैसा फल पाता है। इसमें भाग्य की क्या बात है ? अतएव सब कुछ प्रयत्न अर्थात् पुरुषार्थ पर निर्भर होता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त सत्य को एकांगी नहीं, वरन् बहुमुखी मानते थे। उन्होंने अपने कर्मवाद में इन सभी दार्शनिक दृष्टियों का समन्वय किया। उन्होंने संसार-वैचित्र्य तथा वैविध्य के लिए स्वभाव, नियति, यदृच्छा, ब्रह्म अथवा ईश्वर को स्वीकार न करके कर्म को हेतुभूत स्वीकार किया। उन्होंने दैववादियों की भाँति स्वीकार किया कि जीव कर्माधीन है, वह कृत कर्मों को भोगता तथा नवीन कर्मों का उपार्जन करता है। बीज और अंकुर की भाँति जीव कर्मों से बँधा होने के कारण मनुष्य, तिर्यंच, नरक तथा देव योनियों में बार-बार जन्म लेता हुआ संसार-भ्रमण करता है। इस प्रकार जीव का संसार-भ्रमण कर्मानुसार स्वतः घटित होता है। उन्होंने इसके लिए नियति, यदृच्छा, ब्रह्म अथवा ईश्वर की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने आत्मा को सक्रिय माना, सांख्य आदि की भाँति निष्क्रिय नहीं। उन्होंने आत्मा को स्वकर्मों का कर्ता और भोक्ता सिद्ध करके अपने कर्मवाद में पुरुषार्थवाद को भी रथ के दो पहियों की भाँति तुल्य स्थान प्रदान किया। जीव अपने पूर्व कर्मों का उपभोग करने के लिए एक सीमा तक परतंत्र अवश्य है, परंतु नवीन कर्मों का उपार्जन करने में किसी सीमा तक स्वतंत्र भी है। वह अपने पुरुषार्थ से जिन द्वारों से कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है उनका संवर (निरोध) भी कर सकता है और जिस प्रकार नियत काल से पूर्व फलों को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत समय से पूर्व बद्ध कर्मों का भोग कर उनकी निर्जरा (क्षय) भी कर सकता है। वह कर्म-प्रकृति को तो नहीं बदल सकता, किंतु अपने पुरुषार्थ से मूल प्रकृति के कर्म-पुद्गलों का उनकी उत्तर प्रकृतियों में संक्रमण कर सकता है। वह अपने अध्यवसाय से कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मंदता में भी परिवर्तन कर सकता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने कर्म को पुद्गल सिद्ध किया। जैसे परमाणु का कार्य घटादि मूर्त होता है तथा घटादि के मूर्त होने से उनका परमाणु भी मूर्त माना जाता है, वैसे ही कर्म का कार्य शरीरादि मूर्त होने से उन्होंने उसे भी मूर्त माना। जिस प्रकार आहार से मनुष्य को स्राव की प्राप्ति तथा अग्नि के संसर्ग से दुःख की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार कर्म भी उसे सुख-दुःख की प्राप्ति कराता है, अतएव आहार तथा अग्नि की भाँति उसे भी मूर्त मानना होगा।

प्रश्न उठता है कि विज्ञान अथवा आत्मा तो अमूर्त होता है, अतएव उसके साथ मूर्त कर्म का संबंध कैसे घटित होगा ? जिस प्रकार विज्ञान के अमूर्त होने पर भी मूर्त मदिरा अथवा विषादि से उसका उपघात तथा दूध आदि पौष्टिक पदार्थों से उपकार होता है, उसी प्रकार मूर्त कर्म से अमूर्त आत्मा का उपघात अथवा उपकार होता है। अथवा जिस प्रकार मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ अथवा मूर्त उँगली का उसे सिकोड़ने, फैलाने आदि की अमूर्त क्रियाओं से संबंध होता है, उसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ संबंध माना जा सकता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने प्रतिपादित किया कि सम्पूर्ण लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ कर्म-परमाणुओं में बदले जा सकनेवाले पुद्गल-परमाणु विद्यमान न हों। जब मनुष्य के आत्मा में मन-वचन-काय की किसी प्रवृत्ति से परिस्पंदन होता है तो वह कर्मयोग्य पुद्गल-परमाणुओं को उसी प्रकार आकर्षित कर लेता है जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि शरीर में तेल लगाये बैठा हो तो धूल के कण उससे स्वतः चिपक जाते हैं। कर्म संबंधी अपनी इसी स्थापना के आधार पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने युग के आत्मवादियों तथा वैराग्यवादियों के दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित किया। संसारी जीव के साथ कर्म-परमाणुओं का समूह नीर-क्षीर के समान बद्ध होता है। इसी आधार पर बद्ध अथवा संसारी जीव को शुद्ध चैतन्यस्वरूप नहीं कहा जा सकता। कर्म (पुद्गल) के संसर्ग से वह कथंचित् जड़ भी माना जायगा।

निगंठ ज्ञातपुत्त के कर्मवाद को स्वीकार कर लेने पर उनकी पुनर्जन्म, पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक संबंधी मान्यताओं की व्याख्या करना सरल हो जाता है। प्राणी जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार सुख और दुःख का भोग करता है और अपने अगले भव के शरीर, रूप, गोत्र तथा आयु को बाँधता है। बीज और अंकुर की संतति की भाँति कर्म अतीत देह का कार्य और भावी देह का कारण होता है। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ कर्मबंध के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। शुभ कर्मबंध (पुण्य) से सुख तथा अशुभ कर्मबंध (पाप) से दुःख की प्राप्ति होती है। इस संसार में कोई भी प्राणी पूर्णतया सुखी अथवा दुःखी नहीं देखा जाता। पूर्णतया सुखी प्राणी भी कुछ-न-कुछ दुःख का उपभोग करते हैं और पूर्णतया दुःखी प्राणी भी कुछ-न-कुछ सुख का उपभोग करते हैं। अतएव प्रकृष्ट पाप कर्म के फल प्रकृष्ट दुःख का निरंतर उपभोग करनेवाले नारकीयों तथा प्रकृष्ट पुण्य कर्म के फल प्रकृष्ट सुख का निरंतर उपभोग करनेवाले देवों का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि इस संसार में तीव्र दुःख का भोग करनेवाले तिर्यंच जीवों को ही नारकीय क्यों न मान लिया जाय, अप्रत्यक्ष नारकीयों की कल्पना क्यों की जाय ? इसी प्रकार गुण, ऋद्धि आदि से मुक्त विपुल सुखों का उपभोग करनेवाले मनुष्यों को ही देव क्यों न मान लिया जाय, अप्रत्यक्ष देवों की कल्पना क्यों की जाय ? तो इसका उत्तर यह होगा कि घट तथा पट की भाँति देव शब्द भी सार्थक होने से उसका कुछ न कुछ वाच्यार्थ मानना पड़ेगा । वह मनुष्य नहीं हो सकता । जैसे सिंह के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार देवों के प्रत्यक्ष न होने पर भी उनका अस्तित्व स्वीकार कर लेना चाहिए । और प्रकृष्ट सुखों का उपभोग करनेवाले देवों का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर उन्हीं तर्कों के आधार पर प्रकृष्ट दुःखों का उपभोग करनेवाले नारकीयों को भी अस्तित्ववान् मानना होगा ।

निगंठ ज्ञातपुत्त का सारा जीवनदर्शन उनकी आत्मवाद तथा कर्मवाद संबंधी मान्यताओं पर आधारित था । अपने युग के अन्य दार्शनिकों की भाँति वे भी आत्मा को अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य (वल) से युक्त मानते थे । वह आत्मा को स्वदेह-परिमाण मानते थे । वह ज्ञान को आत्मा की उपाधि अथवा आगंतुक गुण नहीं, उसका अभिन्न स्वभाव मानते थे। वह आत्मा के अन्य गुणों को इसी में समाहित मानते थे । इसीलिए वह इंद्रियों और मन के माध्यम से होनेवाले ज्ञान की अपेक्षा स्वयं आत्मा से प्रकाशित होनेवाले ज्ञान को अधिक विशद तथा पूर्ण मानते थे। उन्होंने इंद्रियों और मन से होनेवाले ज्ञान को परोक्ष तथा आत्मा से होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रतिपादित किया ।

वह ज्ञान का विभाजन पाँच श्रेणियों में करते थे : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान । इंद्रिय तथा मन की सहायता से होनेवाले ज्ञान को वह मतिज्ञान तथा शब्द-श्रवण से होनेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते थे । दोनों ज्ञान इंद्रियाश्रित होने से सहचारी और आत्मा की दृष्टि से परोक्ष माने जायेंगे ।

सीधे आत्मा में उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में वह अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान की परिगणना करते थे और उसे प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखते थे । अवधि का अर्थ है 'सीमा' अथवा 'वह जो सीमित है' । अवधिज्ञान का विषय समस्त रूपी द्रव्य होता है । क्योंकि रूपी द्रव्य लोक में सीमित है, अतएव उसकी सीमा लोक से आगे नहीं जाती । मन के समस्त पर्यायों का ज्ञान मनः-पर्यायज्ञान कहलाता है जो अवधिज्ञान से अधिक सूक्ष्म तथा विशद होता है ।

अवधिज्ञान का विषय जब कि समस्त रूपी द्रव्य (उसके समस्त पर्याय नहीं) होता है, मनःपर्यायज्ञान का विषय मन (समस्त पर्यायों सहित) होता है। दोनों ज्ञान केवल रूपी द्रव्यों का साक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं, आत्मा आदि अरूपी द्रव्यों का नहीं।

वह केवलज्ञान को विशुद्धतम ज्ञान की कोटि में रखते थे। यह सीधे आत्मा से प्रकाशित होता है। क्या आत्मा स्वयं से स्वयं को जान सकता है? अथवा क्या कोई चतुर नट अपने ही कंधों पर चढ़ सकता है। निगंठ ज्ञातपुत्त मानते थे कि केवलज्ञान दीपक की भाँति होता है जो स्वयं को भी प्रकाशित करता है और दूसरी वस्तुओं को भी। समस्त रूपी-अरूपी द्रव्यों को उनके भूत, वर्तमान तथा भविष्य के समस्त पर्यायों सहित जानना केवलज्ञान से ही संभव है। यह पूर्ण ज्ञान होता है। पूर्ण अकेला होता है। जहाँ दो होते हैं वहाँ अपूर्णता होती है। इसीलिए इसे केवल (अकेला) कहते हैं। यह इन्द्रियों और मन से निरपेक्ष सीधे आत्मा से प्रकट होकर दीपक की भाँति स्व-पर-प्रकाशक होता है। इसे आत्मा की ज्ञानशक्ति का चरम विकास कहा जा सकता है। यह केवल वर्तमान-काल अथवा इस लोक तक सीमित नहीं होता, यह त्रिकालवर्ती तथा त्रैलोक्यवर्ती होता है। इस केवल-ज्ञान को प्राप्त करनेवाला ही केवली अथवा सर्वज्ञ कहलाने का अधिकारी होता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त की मान्यता थी की संसारी आत्मा के ज्ञानादि गुणों को कर्म-पुद्गलों का आवरण उसी प्रकार आच्छादित रखता है जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को आच्छादित कर देते हैं। इस आधार पर वह आत्मा की चार मूल शक्तियों—अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य पर आवरण डालकर उनका घात करनेवाले कर्म-पुद्गलों का वर्गीकरण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा मोहनीय में करते थे। वे इनमें से मोहनीय कर्म का बंध सबसे प्रबल मानते थे; वह आत्मा की सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य की शक्ति का घात करता है। आत्मा की शक्ति का घात करनेवाले इन कर्मों का आवरण उसके ऊपर से जैसे-जैसे हटता है, वैसे-वैसे उसे स्वरूपानुभूति होती है और उसकी जिस शक्ति का घात करनेवाले कर्म का जितनी मात्रा में क्षय हो जाता है उतनी मात्रा में उसके अन्दर उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है।

जिस प्रकार बीज और अंकुर की संतति नवीन बीज की उत्पत्ति न होने पर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार संसारी आत्मा भी संवर द्वारा नवीन कर्मोपार्जन बन्द करके तथा तप-संयम द्वारा बद्ध कर्मों की निर्जरा करके अपने को

कर्मबन्धन से मुक्त कर सकता है। कर्म पुद्गल होने से जड़ होते हैं। इस जड़त्व से मुक्त हो जाने पर आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार सोना पत्थर से अलग हो जाने पर अपना शुद्ध रूप प्राप्त कर लेता है। कर्मबंधनों से मुक्त व्यक्ति को ही उस काल में अर्हत, जिन, केवली अथवा जीवनमुक्त कहा जाता था। उसे आध्यात्मिक विकास की परा काष्ठा पर पहुँचा हुआ व्यक्ति माना जाता था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने कर्मवाद को गणितविज्ञान का रूप प्रदान किया। कौन कर्म आत्मा को अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय बाँधता है, उसके बन्धन की क्या-क्या अवस्थाएँ होती हैं, कर्म की कितनी प्रकृतियाँ और उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं, कितने समय तक वह फल न प्रदान करते हुए आत्मा से बँधा रहता है और फिर फल प्रदान करके नष्ट हो जाता है, किस प्रकार उसका उदीरण संभव है, इस सब की उन्होंने विशद व्याख्या की और इसके आधार पर मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के सूत्रों को भी गणित के सूत्रों की भाँति सरल तथा सुबोध बना दिया। जीव बद्ध क्यों होता है ? कर्मों के बंध से। कर्मों का आस्रव कैसे रोका जा सकता है ? संवर से। बद्ध कर्मों की निर्जरा कैसे संभव है ? तप और संयम से। निर्वाण क्या है ? समस्त कर्मबन्धनों का नाश।

निगंठ ज्ञातपुत्त की मान्यता थी कि समस्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणु समान होते हैं। तब फिर वे शुभ (पुण्य) तथा अशुभ (पाप) कर्मों में कैसे परिणत हो जाते हैं ? जिस प्रकार तुल्य आहार गाय में दूध और विषधर सर्प में विष उत्पन्न करता है अथवा एक ही आहार को शरीर रस, रक्त, मांस आदि सार तत्त्वों तथा मल-मूत्रादि असार तत्त्वों में बदल देता है, उसी प्रकार जीव अपने शुभ अथवा अशुभ अध्यवसाय (संकल्प) से उन्हें शुभ और अशुभ परिणामी बनाकर पाप और पुण्य में परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार निगंठ ज्ञातपुत्त ने प्रतिपादित किया कि शुभ तथा अशुभ कर्मों अर्थात् पुण्य और पाप के उपार्जन में आत्मा का शुभ अथवा अशुभ अध्यवसाय निर्णायक होता है।

वह मुख्य रूप से योग और कषाय को कर्मों का आस्रवद्वार मानते थे। योग का शाब्दिक अर्थ है जोड़ना। वह मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को ही योग कहते थे। इन क्रियाओं से आत्मा में परिस्पन्दन होने पर वह कर्म-परमाणुओं को अपनी ओर उसी प्रकार खींच लेता है जिस प्रकार लोहे का गर्म गोला पानी में डालने पर चारों ओर के जल-कायों को अपनी ओर खींच लेता है। कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा संक्षेप में राग-द्वेष) जितना तीव्र अथवा मंद होता है, उतनी ही सबलता अथवा दुर्बलता के साथ वह कर्म-परमाणुओं को आत्मा

के साथ बाँध देता है। अतएव कषाय के क्षीण होने से आत्मा का कर्म बंध भी क्षीण होता है।

उन्होंने प्रतिपादित किया कि मनुष्य के कषाय से रहित होने पर मन, वचन, काय की प्रवृत्ति (योग) से आत्मा में कर्मयोग्य परमाणुओं का आगमन तो होता है, परंतु वे वहाँ अधिक देर ठहर नहीं पाते। यदि दीवार पर गोंद लगा हो तो वायु के द्वारा उड़कर आनेवाली धूल चिपक जाती है, किन्तु यदि दीवार गोंद-रहित हो तो धूल उस पर ठहरती नहीं तुरत झड़ जाती है। इसी प्रकार आत्मा-रूपी दीवार पर यदि कषायरूपी गोंद लगा हो तो योगरूपी हवा से उड़कर आनेवाली कर्म-परमाणु रूपी धूल चिपक जाती है, किन्तु यदि उस पर कषाय रूपी गोंद न लगा हो तो कर्म-परमाणु रूपी धूल इस पर ठहरती नहीं, तुरत झड़ जाती है। कषायरहित कर्मबन्धन अत्यन्त शिथिल तथा कषायसहित कर्मबंधन अत्यन्त दृढ होते हैं।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने कषाय अर्थात् राग-द्वेष का कारण अविद्या (मिथ्यात्व) बताया। राग-द्वेष के कारण जीव (आत्मा) कर्म से बँधता है। कर्म से देह की उत्पत्ति होती है और देह से कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जीव निरन्तर संसार-भ्रमण करता हुआ दुःख का उपभोग करता रहता है। संसार शब्द की व्युत्पत्ति गति अर्थ वाली सृ धातु के मानी जाती है जिससे उसका अर्थ ही होता है—संसरण करना। अपने युग के मूल दार्शनिकों की भाँति वह भी संसार को जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक आदि से युक्त होने के कारण दुःखमय मानते थे। वह देहेन्द्रिय-जनित सुख को वास्तविक सुख नहीं मानते थे। चिकित्सा की भाँति रोग का प्रतिकारस्वरूप होने के कारण वह वस्तुतः दुःखरूप होता है। जिस प्रकार खुजली रोग होने पर उसे खुजलाने से मनुष्य को दुःख का प्रतिकार होने से सुखानुभव होता है, परन्तु वास्तव में इससे उसका दुःख और बढ़ जाता है, उसी प्रकार देहेन्द्रिय-जनित सुख भी वास्तव में दुःखरूप होते हैं और उनके सेवन से दुःख की वृद्धि होती है।

उन्होंने प्रतिपादित किया कि कर्मनाश से ही दुःखनाश सम्भव है, वह मानते थे कि तप और संयम, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र्य से राग-द्वेषों को नष्ट किया जा सकता है। इसे ही वह सँवर कहते थे। सँवर से अर्थात् राग-द्वेष नष्ट कर देने से कर्मबन्धन नष्ट होते हैं और कर्म-निर्जरा होने पर जीव भवबन्धन अर्थात् दुःख से मुक्त हो जाता है। इसे ही वह निर्वाण अथवा मोक्ष मानते थे।

कर्मविशुद्धि के अनुसार वे आत्मिक गुणों के विकास की अवस्थाओं का वर्गीकरण चौदह गुणस्थानों में करते थे। इस वर्गीकरण के आधार पर जीव की आध्यात्मिक प्रगति का सहज पता चल जाता है। सबसे प्रथम गुणस्थान आत्मा की सबसे गिरी हुई अवस्था का द्योतक होता है। इस अवस्था में आत्मा पर प्रबल मोह (राग-द्वेष) का परदा पड़ा होने से उसकी आंतरिक शक्तियाँ पूर्णतया आच्छादित रहती हैं और मिथ्यादृष्टि के कारण वह अपने हित-अहित का सम्यक् विचार तक नहीं कर पाता। जब आत्मा इस अवस्था से निकल कर दूसरे गुणस्थान पर पहुँचता है तब उसके ऊपर पड़ा मोह का घना आवरण कुछ क्षीण हो जाता है और वह अत्यन्त अल्पकाल के लिए सम्यक् दृष्टि धारण करने में समर्थ हो जाता है। तीसरे गुणस्थान पर स्थित आत्मा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की मिश्रित दृष्टि रखता है। उसकी यह अवस्था लम्बे काल तक नहीं चलती। या तो वह पुनः मिथ्यात्व की सबसे निचली अवस्था में पहुँच जाता है या तीव्रतम मोह की ग्रन्थि का भेदन कर चौथे गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में पहुँचने पर उसमें सम्यक् दृष्टि तो रहती है, किंतु सम्यक् चारित्र्य का अभाव होता है।

मनुष्य का आत्मिक जागरण वास्तव में पाँचवें गुणस्थान से आरम्भ होता है, जब वह सम्यक् चारित्र्य का आंशिक रूप से पालन आरम्भ कर देता है। व्रतधारी श्रावक आत्मिक विकास की दृष्टि से इसी अवस्था में होता है। इससे ऊँची अवस्था वह तब प्राप्त करता है जब वह अनगार बनकर सम्यक् चारित्र्य का पूर्ण रूप से पालन करना आरम्भ कर देता है और अपने को छठे गुणस्थान पर स्थित कर देता है। इस अवस्था में साधक के प्रमादवश साधना-च्युत होने का भय बना रहता है।

जब साधक अपनी साधना को प्रमादरहित बना देता है तो वह सातवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में प्रमाद सर्वांशतः नष्ट नहीं होता, अतएव साधक कभी प्रमत्तावस्था में रहता है और कभी अप्रमत्तावस्था में। जब वह इस संघर्ष में विजयी होकर पूर्ण रूप से प्रमादरहित हो जाता है तब वह आठवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इस अप्रमत्तावस्था में उसे चारित्र्यपालन का अपूर्व अध्यवसाय प्राप्त हो जाता है, किंतु उसके पुनः विषयाभिमुख होने की संभावना पूर्णतया नष्ट नहीं होती।

जब साधक स्थूल कषायों का उपशमन कर देता है तो उसके पुनः विषयाभिमुख होने का भय समाप्त हो जाता है और वह अपने को नवें गुणस्थान पर स्थित कर देता है। तदनन्तर वह अपनी साधना का क्रम और आगे बढ़ाकर

सूक्ष्म लोभ को छोड़कर अन्य सभी कषायों का उपशमन करके दसवाँ गुणस्थान प्राप्त कर लेता है। इसके बाद वह मोह का उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है। इस अवस्था में उसके अन्तर में राख में दबी अग्नि की भाँति मोह वर्तमान रहता है और यदि वह भड़क उठता है तो साधक कभी-कभी ग्यारहवें गुणस्थान से एकदम नीचे गिरकर पहले गुणस्थान पर पहुँच जाता है।

यदि साधक मोह के अवशिष्ट अंश को भी निर्मूल कर देता है तो वह बारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है और इसके बाद उसके आध्यात्मिक पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती। इस अवस्था में पहुँचने पर उसके सभी कषाय क्षीण हो जाते हैं और वह क्षीणकषाय कहलाने लगता है।

मोह का नाश करके वीतराग बन जाने पर साधक केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसके लिए तेरहवें गुणस्थान की उपलब्धि सहज हो जाती है। साधना की यह अवस्था मोह मुक्ति की अवस्था कही जा सकती है। इसके बाद साधक के आत्मिक विकास की चरम अवस्था तब आती है जब वह देह से मुक्ति प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है। इसी सिद्धावस्था को निर्वाण अथवा मोक्ष कहते हैं। गुणस्थान के क्रम से इसका स्थान चौदहवाँ माना जायगा।

निगंठ ज्ञातपुत्त निर्वाण को दीप के विनाश की भाँति मुक्तात्मा का विनाश नहीं मानते थे। जिस प्रकार घट का ध्वंस हो जाने पर भी उसके प्रध्वंसाभाव का नाश नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के मुक्त हो जाने पर उसका नाश नहीं होता। वह कर्म रहित अर्थात् हलका होकर लोक के शिखर पर चला जाता है और अपने विशुद्ध ज्ञानदर्शन—सुखमय स्वरूप में वहीं निवास करता है। जिस प्रकार कस्तूरी, कपूर आदि वस्तुएँ निकट होने पर चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य होती हैं और हवा में उड़ जाने पर केवल घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य होती हैं तथा और दूर चले जाने पर किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होतीं, फिर भी उनकी अवस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वे सिद्ध आत्माओं की अवस्थिति को भी मानते थे।

●

६

तीर्थंकर बनने के बाद निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपना शेष जीवन ग्रामानुग्राम विहार करके अपने तीर्थ का प्रचार करने में लगाया। उनका जीवन बहते पानी के समान बन गया। शायद इसी आधार पर आगम ग्रन्थों में वहते पानी के समान किसी स्थान पर उनके पधारने के लिए 'समवसृत' शब्द का प्रयोग मिलता है। समवसृत शब्द की व्युत्पत्ति 'सृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है चलना। उसमें 'अव' उपसर्ग लगने से उसका अर्थ हो जाता है नीचे की ओर चलना। जिस प्रकार सरिता का जल समरूप में स्वाभाविक गति से प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार उनका विहार होता था। जहाँ कहीं वह समवसृत होते थे वहीं उनकी प्रवचन सभा जुड़ जाती थी। उनकी प्रवचन सभाओं के लिए समवशरण शब्द का प्रयोग मिलता है। उनके समवशरण में विना भेदभाव के सभी स्त्री-पुरुषों को सम भाव से शरण मिलती थी। उनके मुखमंडल पर विराजनेवाली अखंड शान्ति तथा समरसता का प्रभाव श्रोताओं पर भी पड़ता था और उनके समवशरण में पहुँच कर सभी अपना वैर-भाव भूल जाते थे।

जहाँ कहीं निगंठ ज्ञातपुत्त समवसृत होते थे, वहाँ जनता की भीड़ इस तरह टूट पड़ती थी जैसे कोई इन्द्रभट, स्कंदभट, रुद्रभट, मुकुन्दभट, शिवभट, वैश्रवणभट, नागभट, यक्षभट या भूतभट का उत्सव हो। दोराहों, तिराहों, चौराहों पर उनके आगमन की चर्चा होने लगती थी। लोग एक दूसरे से कहते थे —लो देवानुप्रियो ! हम भी भगवान की वंदना करें। इससे हमें इस लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति होगी। कोई नागरिक वंदन के लिए, कोई कौतूहल शान्त करने के लिए, कोई अश्रुत बात सुनने की इच्छा से और कोई श्रुत बात का अर्थ निर्णय करने की इच्छा से उनके समवशरण की ओर चल पड़ते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त का प्रवचन जन-जन की समझ में आनेवाली लोकभाषा में होता था, पंडितों की दुर्बोध देवभाषा में नहीं। वह अपने प्रवचनों में दृष्टांतों का प्रचुर प्रयोग करते थे ताकि वे जन-जन की समझ में आ सकें। उनकी प्रवचन सभाएँ प्रायः चैत्यों में होती थीं। उस काल में ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर में यक्षायतन होते थे जो चैत्य कहलाते थे। वे प्रायः वन या उद्यान से आवेष्टित होते थे। इन चैत्यों में अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिए नागरिकों का

आवागमन बराबर होता रहता था। नट-नर्तक, गायक-वादक आदि भी अपने करतब दिखाने के लिए वहाँ एकत्र होते थे।

वे प्रायः राजगृह नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित गुणशील चैत्य में समवसृत होते थे। इसी प्रकार चम्पा नगरी में पूर्णभद्र चैत्य में, वैशाली के निकट वाणिज्य ग्राम में द्युतिपलाश चैत्य में, मिथिला में मणिभद्र चैत्य में, कौशाम्बी में चन्द्रावतरण चैत्य में तथा श्रावस्ती में कोष्ठक चैत्य में समवसृत होते थे।

तीर्थंकर बनने से पूर्व वह एकल विहारी थे। प्रायः मौन रहकर ध्यान और तपस्यारत रहते थे। अब वह विशाल संघ के साथ विहार करते थे और हजारों की भीड़ में प्रवचन करते थे। परन्तु उनके बाह्य आचरण में दिखाई पड़नेवाला यह विरोधाभास नितांत ऊपरी था। उनका जीवनलक्ष्य अब भी वही था जो पहले था। पहले उनका लक्ष्य था अपनी आन्तरिक और बाह्य ग्रन्थियों को खोलना, ज्ञेय को जानना और उसके आधार पर मनुष्य के लिए क्या हेय और क्या उपादेय है, इसका अनुसंधान करना। अब वह सभी आन्तरिक तथा बाह्य ग्रन्थियों से रहित हो चुके थे। उन्होंने अपने को पूर्ण रूप से ग्रन्थिरहित (निर्ग्रन्थ) बना लिया था। अब मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ उनके लिए बंधन रूप नहीं थीं, क्योंकि उनके 'स्व' और 'पर' में कोई वैषम्य नहीं था। वह 'पर' की अनुभूति भी 'स्व' के रूप में करते थे। अतएव 'स्व' और 'पर' का विभेद उनके लिए समाप्त हो चुका था, 'पर' का कल्याण अब उनके लिए 'स्व' का कल्याण बन गया था।[1]

इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने चतुर्विध संघ का संगठन किया। पहले उनकी साधना अकेले चलती थी, अब उसका स्थान सामूहिक साधना ने ले लिया। वैशालिक होने के नाते उन्हें संघबद्ध होने का लाभ भली प्रकार ज्ञात था। मुख में जीभ की भाँति वैशाली गणराज्य चारों ओर राजतंत्रों से घिरा होने पर भी संघबद्ध होने के कारण दीर्घ काल से अपनी स्वाधीनता की सुरक्षा करने में समर्थ हुआ। वैशालिक अपनी एकता के लिए विख्यात थे। उनका उठना, बैठना, चलना, बोलना—उनकी सभी प्रवृत्तियाँ एकताबद्ध होती थीं। उनके संघ में कोई छोटा-बड़ा नहीं था, सभी बराबर थे। यही आदर्श उन्होंने अपने संघ के सामने रखा।

---

१. सूत्रकृतांग, आर्द्रकीय नामक छठा अध्ययन।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने संघ की व्यवस्था में अपनी संगठनकुशलता, मनुष्यों का नेतृत्व करने के अपने सहज गुण तथा स्वयं को अनुशासनबद्ध करके दूसरों को अनुशासित करने की अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया। उन्होंने व्यवस्था की दृष्टि से अपने संघ को अनेक छोटे घटकों में बाँट दिया।

उनके संघ का सबसे छोटा घटक गच्छ कहलाता था। एक गच्छ में उतने ही श्रमण या श्रमणी होते थे जितने सुगमतापूर्वक समूहबद्ध साधना कर सकें। गच्छ की व्यवस्था का भार श्रमणाचार में कुशल, प्रवचनप्रवीण, असंक्लिष्टमना तथा दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ श्रमण को सौंपा जाता था। गच्छ बड़ा होने पर उसका और छोटे समूह में अवच्छेद किया जा सकता था। गच्छ के प्रधान को गच्छाधिपति (गणावच्छेदक) कहते थे।

अनेक गच्छों का समुदाय कुल और उसका प्रमुख कुलाचार्य कहलाता था। अनेक कुलों के समुदाय को गण और उनके प्रधान को गणी, गणाचार्य, गणनायक अथवा गणधर कहते थे। अनेक गणों का समुदाय संघ तथा उसका प्रमुख संघी, संघाचार्य, संघनायक अथवा संघाधिपति कहलाता था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने संघ को नौ गणों में विभक्त कर रखा था। जिन ग्यारह महाप्रज्ञावान् वेदविद् दिग्गज आचार्यों को उन्होंने केवली बनने पर महासेन उद्यान में वाद में पराजित करने के बाद अपना अन्तेवासी बना लिया था, उन्हें ही उन्होंने इन गणों का नायक—गणधर नियुक्त कर दिया था। इनमें से आचार्य इन्द्रभूति गौतम, आचार्य अग्निभूति गौतम, आचार्य वायुभूति गौतम, आचार्य व्यक्त, आचार्य सुधर्मा, आचार्य मंडिक तथा आचार्य मौर्यपुत्र पृथक्-पृथक् गणों का नेतृत्व करते थे। आचार्य अकम्पित और आचार्य अचलभ्राता संयुक्त रूप से एक गण का तथा आचार्य मेतार्य तथा आचार्य प्रभास संयुक्त रूप से दूसरे गण का नेतृत्व करते थे।[1] गणधरों का प्रमुख कार्य था निगंठ ज्ञातपुत्त ने जो प्रवचन किये थे उनको सूत्रबद्ध करके उनकी वाचना अपने गण को देना। इसी आधार पर गणधरों को वाचनाचार्य भी कहा जाता था। आचार्य इन्द्रभूति गौतम उनके प्रधान गणधर थे।

श्रमणों की भाँति उन्होंने श्रमणियों का भी संघ गठित किया। अपनी प्रथम अनगार शिष्या आर्या चन्दना को उन्होंने उसकी प्रवर्तिनी नियुक्त किया। श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य को प्राप्त था वही स्थान श्रमणी संघ में प्रवर्तिनी को प्राप्त था। इस पद पर नियुक्ति के लिए आचार्य की भाँति प्रवर्तिनी

---

१. स्थिरावली (कल्पसूत्र, पृ० २७६-७७)।

से भी अपेक्षा की जाती थी कि वह दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ, आचारकुशल, प्रवचनप्रवीण तथा असंक्लिष्टमना हो। अपने गण की प्रधान होने के कारण वह गणिनी भी कहलाती थी। इसी प्रकार गच्छ की प्रधान को गणावच्छेदनी कहा जाता था। उसका कार्य वही था जो श्रमण संघ में उपाध्याय का था, इसलिए उसे उपाध्याया भी पुकारा जाता था। दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ श्रमणों को जिस प्रकार स्थविर सम्बोधित किया जाता था, उसी प्रकार ज्येष्ठ श्रमणियों को स्थविरा सम्बोधित किया जाता था। स्थविर की भाँति स्थविरा का मुख्य कार्य भी संघ में प्रवेश करनेवाली शिशिक्षु को श्रमणाचार की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करना था। उपाध्याया माध्यमिक शिक्षा तथा आचार्या उच्च शिक्षा प्रदान करती थीं।

श्रमण एवं श्रमणी संघ का जीवन गुरुकुलवास की भाँति था। श्रमण-श्रमणियों की रात्रि और दिन के आठ प्रहरों की चर्या निश्चित थी। वे रात्रि के चौथे प्रहर में उठकर स्वाध्याय में रत हो जाते थे। दिन के प्रथम प्रहर में भी स्वाध्याय चलता था। दिन का दूसरा प्रहर ध्यान तथा तीसरा प्रहर भिक्षाचर्या के लिए नियत था। चौथा प्रहर पुनः स्वाध्याय के लिए नियोजित था। रात्रि के प्रथम प्रहर में भी स्वाध्याय चलता था तथा दूसरे प्रहर में ध्यान। तीसरा प्रहर शयन के लिए नियत था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने संघ में ऐसा कोई नियम प्रचलित नहीं किया जिसको उन्होंने स्वयं आचरित न किया हो। प्रव्रज्या से समय श्रमण-श्रमणी पाँच महाव्रत यावज्जीवन के लिए अंगीकार करते थे: सर्वप्राणातिपात-विरमण (प्राणी हिंसा का पूर्ण त्याग), सर्वमृषावाद-विरमण (मृषा अर्थात् असत्य भाषण का पूर्ण त्याग), सर्व-अदत्तादान-विरमण (अदत्त वस्तु का पूर्ण त्याग), सर्वमैथुन-विरमण (मैथुन का पूर्ण त्याग) तथा सर्वपरिग्रह-विरमण (परिग्रह का पूर्ण त्याग)।

इन महाव्रतों का उद्देश्य था—साधक के चित्त में समस्त प्राणियों के प्रति समता भाव की आय करना। इसी को सामायिक कहते थे। साधक के दैनिक षट् आवश्यक कार्यों में सामायिकता सर्वप्रमुख थी। वह प्रति दिन प्रातः तथा सायंकाल शरीर के प्रति आसक्ति त्याग कर तथा चित्त को एकाग्र करके समस्त जीवों के प्रति समता भाव की आराधना करता था। यह माना जाता था कि चित्त को सामायिक करने से समस्त पापपूर्ण कर्मों की निवृत्ति होती है।

साधक के दैनिक आवश्यक कार्यों में सामायिकता के बाद प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्रतिक्रमण का उद्देश्य था—प्रमादवश

साधक ने दोषों की दिशा में जितने पैर आगे बढ़ा दिये हों उन्हें पीछे लौटाना। प्रतिक्रमण प्रति दिन प्रातः और सायं आचार्य अथवा उपाध्याय की उपस्थिति में किया जाता था। अपनी रात अथवा दिन भर की समस्त क्रियाओं का सूक्ष्म अवलोकन करके व्रतों के पालन में उससे जो भी दोष हुए हों, उनकी आलोचना करता था, निंदा करता था और 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो' कहकर उन पर पश्चात्ताप प्रकट करता था। यह माना जाता था कि प्रतिक्रमण से कर्मों के आस्रव का द्वार बंद होता है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग करना। वैसे तो साधक का सारा जीवन त्यागमय होता था, फिर भी मन, वचन, काय के अशुभ भोगों को रोकने के लिए वह समय-समय पर आहार अथवा जल का त्याग कर देता था अथवा उनकी मर्यादा निर्धारित कर लेता था। साधक भिक्षान्न में प्राप्त आहार इसलिए ग्रहण करता था कि शरीर संयम पालन में समर्थ बना रहे। कुक्कुटी के अंडे के बराबर ३२ कौर का आहार पूर्ण आहार माना जाता था अथवा दीयमान अन्न या जल को साधु के पात्र में डालते समय जितने परिमाण में उसकी अखंड धारा बनी रहे उसे एक दत्ति कहते थे। साधक बहुधा ब्रह्मचर्य आदि व्रतों की रक्षा के लिए कुछ समय के लिए आहार या जल का पूर्ण परित्याग कर देता था अथवा अभिग्रह ले लेता था कि इतने कौर अथवा दत्ति आहार ग्रहण करूँगा। प्रत्याख्यान भी बाह्य तप का एकरूप था, साधक जो भी तप करता था उसका उद्देश्य शरीर को क्लेश देना नहीं, वरन मन, वचन, काय के अशुभ भोगों का निरोध करना होता था। वह शरीर की सामर्थ्य के अनुसार ही तप करता था। तप का उद्देश्य था जितना और जैसा रोग हो वैसी चिकित्सा करना।

निगंठ ज्ञातपुत्त के संघ में अचेल (निर्वस्त्र), अवमचेल (लँगोटधारी) अथवा सचेल (एक, दो या तीन वस्त्रधारी), तीन प्रकार के श्रमण थे। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने चार प्रकार के साधु-वेश के आधार पर अन्य श्रमणों, तापसों तथा परिव्राजकों से सहज ही अलग पहचान लिये जाते थे। उनकी सर्वप्रथम विशेषता थी--उनका अचेल होना। उनका यह साधु-वेश प्रदर्शित करता था कि उन्होंने समस्त परिग्रहों को त्याग दिया है और लज्जाभाव पर भी विजय प्राप्त करके अपने को पूर्ण इन्द्रियजित् बना लिया है। उनकी दूसरी विशेषता थी—अपने हाथों से अपने मस्तक तथा दाढ़ी के बालों का लुंच कर डालना। यह प्रदर्शित करता था कि उन्होंने शरीर पर ममत्व का पूर्ण परित्याग कर दिया है। उनकी तीसरी विशेषता थी स्नान, दंतधावन तथा शरीर-शुश्रूषा से पूर्ण विरत रहना। इसका

उद्देश्य भी शरीर के प्रति पूर्ण अनासक्त भाव का प्रदर्शन करना था। उनके साधु-वेश की चौथी विशेषता थी—ऊन अथवा ऊँट के बाल से अथवा सन की छाल, तिनकों या मूँज को कूटकर बनाया गया रजोहरण रखना। यह प्रदर्शित करता था कि वे समस्त जीवों के प्रति दया का प्रतिपालन करनेवाले हैं।

निगंठ ज्ञातपुत्त के संघ में जो श्रमण शारीरिक दोषों आदि के कारण लज्जाभाव का निवारण करने में अपने को समर्थ नहीं हो पाते थे, संभवतः उन्हें एक, दो या तीन वस्त्र रखने की अनुमति थी। निगंठ ज्ञातपुत्त की परिग्रह की परिभाषा में मुख्य बल आसक्ति अथवा मूर्च्छा के परित्याग पर था। यदि साधक निर्वस्त्र होने पर भी मूर्च्छा (आसक्ति) का त्यागी नहीं था तो वह परिग्रही समझा जाता था, अपरिग्रही नहीं। इसी प्रकार यदि वह वस्त्रधारी होने पर मूर्च्छा अथवा आसक्ति नहीं रखता था तो वह अपरिग्रही माना जाता था, परिग्रही नहीं। इसीलिए संघ के अंदर अचेल, अवमचेल तथा सचेल साधकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे एक दूसरे को हीन न समझें। अचेल श्रमण को यह भावना नहीं रखनी चाहिए कि मैं उत्कृष्ट हूँ और सचेल अपकृष्ट है। इसी प्रकार एक-वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी अथवा त्रिवस्त्रधारी को दूसरों की निंदा नहीं करनी चाहिए और यह समझना चाहिए कि अचेल, अवमचेल तथा सचेल, तीनों भगवान की आज्ञा का अनुसरण करनेवाले हैं।

श्रमणी संघ में चार वस्त्र रखने का विधान था—दो हाथ की एक संघाटी सामान्य रीति से पहनने के लिए, तीन-तीन हाथ की दो संघाटियाँ भिक्षाचर्या के समय धारण करने के लिए और चौथी चार हाथ की संघाटी भगवान के समवसरण में सारा शरीर ढककर जाने के लिए।

संघ में कुछ श्रमण पात्रधारी होते थे और कुछ पात्र तक का परिग्रह नहीं करते थे। वे पाणिपात्र (हथेली) में ही भोजन कर लेते थे।

संघ में आहार, वस्त्र, पात्र तथा शय्या योग्य स्थान (वसति अथवा उपाश्रय) की गवेषणा के लिए विशद नियम थे। साधक के लिए उच्च, मध्यम तथा निम्न कुलों से प्राप्त भिक्षा पर निर्वाह करने का विधान इसीलिए किया गया कि वह सब प्रकार के मान से रहित हो सके। वह सूर्योदय और सूर्यास्त के बीच केवल एक बार आहार लेता था, वह भी ऐसा आहार जो श्रमणाचार की दृष्टि से सब प्रकार के दोषों से रहित हो और संयम की साधना में सहायक हो। वह साधुओं के

उद्देश्य से तैयार किया गया या खरीदा गया आहार ग्रहण नहीं करता था। वह आमंत्रण स्वीकार करके किसी के घर भिक्षा लेने नहीं जाता था। वह गृहस्थ के द्वारा अपने लिए तैयार किये गये आहार का ही एक भाग स्वीकार करता था, और सो भी इतने परिमाण में कि गृहस्थ को न भूखा रहना पड़े और न दुबारा बनाने की आवश्यकता पड़े। वह ऐसा कोई आहार नहीं ग्रहण करता था जिसे तैयार करने के निमित्त किसी प्रकार की हिंसा हुई अथवा होने की संभावना हो। इसीलिए निग्रंथ श्रमण-श्रमणियों के लिए राजपिंड ग्रहण करना वर्जित था।

निग्रंथ श्रमण कुएँ, तालाव, बावड़ी अथवा नदी के जल को सचित्त मानते थे। वे सचित्त जल के त्यागी थे और केवल उबाला हुआ अचित्त जल ही ग्रहण करते थे। वे ऐसा कोई आहार स्वीकार नहीं करते थे जिससे सचित्त जल का स्पर्श हुआ हो या होने की संभावना हो।

सचेल श्रमणों को ऊन, कपास अथवा सन से बने अल्प मूल्य वाले वस्त्र स्वीकार करने की अनुमति थी। वे पतले, सुनहले, चमकते या बहुमूल्य वस्त्र नहीं स्वीकार करते थे। आहार की भाँति अपने निमित्त खरीदा या धोया गया वस्त्र भी नहीं स्वीकार करते थे। उनके लिए वस्त्रों को धोना, रँगना या आकर्षक बनाना निषिद्ध था।

पात्रधारी श्रमण अपने साथ प्रायः तुम्बे, काष्ठ अथवा मिट्टी का बना अल्प मूल्यवाला एक पात्र रखता था। धातु का बहुमूल्य पात्र रखना उसके लिए निषिद्ध था। आहार तथा वस्त्र की भाँति पात्र की गवेषणा के लिए भी वह आधे योजन से अधिक दूर नहीं जाता था।

साधुओं को शय्या योग्य स्थान प्रदान करनेवाला दाता उस काल में शय्यातर कहलाता था। निग्रंथ श्रमण गृहस्थों से सेवित अथवा चित्रों से शोभित, धूप गंध से सुवासित तथा वस्त्रों से सज्जित घरों में वसति नहीं ग्रहण करते थे। वे साधुओं के उद्देश्य से बनवाये गये या खरीदे गये घरों में भी नहीं ठहरते थे। वे शय्यातर का आहार नहीं ग्रहण करते थे।

श्रमण या श्रमणी का एक ही घर में वसति ग्रहण करना निषिद्ध था। यहाँ तक कि वे एक ही प्राचीर अथवा एक ही द्वारवाले ग्राम आदि में भी एक साथ वसति नहीं ग्रहण करते थे।

---

१. निशीथ (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २)।

श्रमण-श्रमणी शयन के लिए काठ का पटरा (फलक), बैठने के लिए काठ की चौकी (पीठ) अथवा बिछौने (संस्तारक) के लिए तृणादि जो भी वस्तु गृहस्थ से स्वीकार करते थे उसे उपयोग के बाद पुनः वापस लौटा देते थे और उनका उपयोग उतने ही समय तक करते थे जितने के लिए गृहपति अनुमति प्रदान करता था।

श्रमण-श्रमणी वर्षाऋतु के चार महीने छोड़कर ग्रीष्म तथा हेमंत ऋतु के आठ महीनों में बराबर ग्रामानुग्राम भ्रमण करते रहते थे। श्रमणों के लिए किसी ग्राम या नगर में एक मास और श्रमणियों के लिए दो मास से अधिक ठहरना आचारविहित नहीं था। यदि कोई ग्राम या नगर प्राचीर के भीतर भी और बाहर भी बसा हो तो दोनों भागों में अलग-अलग एक महीना अथवा दो महीना ठहरा जा सकता था। श्रमण-श्रमणियों के लिए पूर्व में अंग देश (चम्पा) तथा मगध देश (राजगृह), दक्षिण में कौशाम्बी, पश्चिम में स्थूणा (हस्तिनापुर) तथा उत्तर में कुणाला (उत्तरी कोसल) तक विहार करने की अनुमति थी, जिससे प्रकट होता है कि श्रमणों का प्रभाव क्षेत्र देश के इन्हीं भूभागों में था।

निग्रन्थ श्रमण-श्रमणी छत्र एवं उपानह (जूते) का प्रयोग नहीं करते थे। वे यात्रा में किसी वाहन का प्रयोग नहीं करते थे। वे पैदल ही भ्रमण करते थे। गमन करने के विस्तृत नियम थे। गमन के समय शकट में जुड़े बैल की भाँति साढ़े तीन हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए चलने का नियम था ताकि पैर किसी बीज, अंकुर, हरित या अन्य सचित्त वस्तु पर न पड़ें और किसी क्षुद्र जीव की विराधना न हो। श्रमणों से अपेक्षा की जाती थी कि वे जिस समय जो क्रिया करें उसी में सारा योग लगा दें ताकि प्रमाद दोष की संभावना न हो।

वर्षा ऋतु में असंख्य लघु जीव, हरित सूक्ष्म, बीज सूक्ष्म, पनक सूक्ष्म (सेवार), प्राण सूक्ष्म (छोटे-छोटे न दिखाई पड़नेवाले जीव) तथा अण्ड सूक्ष्म (छोटे-छोटे न दिखाई पड़ने वाले अण्डे) उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण मार्ग में चलने से जीवों की विराधना रोकना संभव नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त वर्षा काल में मार्गों में पानी तथा कीचड़ भर जाने से मार्ग तथा उन्मार्ग का अन्तर करना कठिन हो जाता है। इसीलिए संघ में आषाढ़ पूर्णिमा के बाद पचास दिन के अन्दर अर्थात् भाद्रपद शुक्ल पंचमी तक वर्षावास में स्थिर हो जाने का विधान था।

संघ में विनय गुण को विशेष महत्त्व दिया जाता था और उसे भी तप

माना जाता था। दीक्षा-पर्याय में कनिष्ठ श्रमण-श्रमणियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने से ज्येष्ठ श्रमणों का खड़े होकर बहुमान करें और उनको हित-कर शिक्षाओं को नतमस्तक होकर ग्रहण करें। दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता वर्षाकाल से गिनी जाती थी। उसे एक प्रकार से वर्षमान माना जाता था। गुरु को सदैव उच्च आसन प्रदान किया जाता था। साधक कभी उनके बराबर नहीं बैठता था। वह सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता था और शय्या भी उनसे नीचे लगाता था। यह माना जाता था कि जो साधक आचार्य एवं उपाध्याय की सेवा करता है, उसकी शिक्षा जल से सींचे हुए वृक्षों की भांति बढ़ती है। गुरु अथवा उपाध्याय की बार-बार अवज्ञा करने वालों को संघ से निकाल दिया जाता था और उन्हें किसी भी अवस्था में पुनः प्रव्रज्या नहीं दी जाती थी।

संघ के नियमों की अवहेलना करनेवाले श्रमण-श्रमणियों के लिए दस प्रकार के प्रायश्चित्त (तप) का विधान था। सामान्य दोषों की शुद्धि के लिए आलोचना (सखेद अपराध स्वीकारोक्ति) तथा प्रतिक्रमण ('मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो' कहकर दोष से पीछे हटने का संकल्प) यथेष्ट माना जाता था। इससे बड़े दोषों की शुद्धि के लिए मासिक अथवा चातुर्मासिक उपवास अथवा अर्ध उपवास का विधान था। अधिक गंभीर दोषों की शुद्धि के लिए दीक्षा-पर्याय में छेद करके ज्येष्ठता-क्रम में कमी कर दी जाती थी। पंचेन्द्रिय जीव-घात अथवा मैथुन सेवन आदि दोषों के लिए प्रव्रज्या समाप्त कर पुनः दीक्षित करने की व्यवस्था थी और अधिक सबल दोषों के लिए अपराधी को तुरन्त नवीन दीक्षा न देकर निर्धारित रीति से तपस्या करने के बाद ही पुनः दीक्षित किया जाता था। संघ के अन्दर सबसे कठोर दण्ड अपराधी को संघ से निष्कासित कर देना माना जाता था। यह दण्ड तीर्थंकर, गणधर, आचार्य अथवा उपाध्याय की पुनः-पुनः अवज्ञा करने वालों को दिया जाता था।

संघ में पांडु अथवा वात रोग से पीड़ित व्यक्तियों अथवा नपुंसकों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना जाता था। इनको छोड़कर प्रव्रज्या देने में वर्ण, कुल या लिंग (स्त्री-पुरुष) का कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। आठ वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं को श्रमणाचार के अयोग्य जानकर संघ में नहीं प्रविष्ट किया जाता था। इससे अधिक आयु के बालक-बालिकाओं को, जिनकी बगल में बाल न निकले हों, शिशिक्षु माना जाता था। उनकी शिक्षा का भार स्थविर या स्थविरा पर रहता था।

संघ में सेवा भावना पर बहुत बल दिया जाता था। कुल, गण तथा संघ

की सेवा को कर्मों की महानिर्जरा का साधन माना जाता था। साधक से अपेक्षा की जाती थी कि वे ग्लान (सरोगी), सहधार्मिक अथवा तपस्या में रत साधु की सेवा के लिए अपने को स्वेच्छा से अर्पित करें। संघ में कोई भी सेवा अनिच्छा-पूर्वक नहीं ली जाती थी। सेवा देनेवाला साधक सेवा लेनेवाले आचार्य, स्थविर अथवा भिक्षु से कहता—'मैं अपनी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हूँ।'. इसी प्रकार सेवा लेनेवाला भी किसी प्रकार की आज्ञा नहीं आरोपित करता था। वह कहता था....'यदि आपकी इच्छा हो तो आप मेरा यह कार्य कर दें।' आचार्य, उपाध्याय अथवा स्थविर की सेवा ज्ञान एवं आचार की उपलब्धि में सहायक मानी जाती थी। निग्रंथ-संघ का आदर्श स्वावलम्बन था।

संघ के अन्दर पूर्ण वैचारिक स्वतन्त्रता विद्यमान थी। निगंठ ज्ञातपुत्त की शिक्षाएँ आज्ञा रूप में नहीं, प्रज्ञापन के रूप में थीं। निगंठ ज्ञातपुत्त केवल अपने विचारों को सम्यक् रूप में निरूपित कर देते थे, बता देते थे कि उनकी दृष्टि में सत्य क्या है, यथार्थ सुख क्या है और उसे प्राप्त करने वाला मार्ग कौन-सा है। परन्तु उस मार्ग को चुनना अथवा उस पर चलना पूर्णरूप से श्रोता की स्वेच्छा पर छोड़ देते थे। यदि श्रोता उनके प्रवचनों से हृष्ट-तुष्ट होकर कहता था—'भंते ! मैं निग्रंथ प्रवचन पर विश्वास करता हूँ। निग्रन्थ प्रवचन मुझे रुचिकर लगता है। आपने सत्य का यथार्थ निरूपण किया है। यही तथ्य है। यही अभिलषणीय है।' तो भी वे यही उत्तर देते थे—'देवानुप्रिय, तुम्हें जिसमें सुख हो वैसा करो।' वे केवल इतनी प्रेरणा देते थे कि समय बीतता जा रहा है। अतएव प्रमाद मत करो। जो करना रुचिकर लगे, उसमें विलम्ब मत करो।

गौतम गणधर (आचार्य इन्द्रभूति गौतम) निगंठ ज्ञातपुत्त के प्रथम शिष्य थे। संघ के सदस्यों को गुरु के साथ किस प्रकार विनय का व्यवहार करना चाहिए इसके लिए उनका आचरण उदाहरणस्वरूप था। वे सदैव छाया की भाँति गुरु का अनुसरण करते थे और उनसे पूछे बिना कोई कार्य नहीं करते थे।

उनकी चर्या संघ के अंतेवासियों के लिए श्रमणाचार का आदर्श प्रस्तुत करती थी। वह उग्र तपस्वी थे। ब्रह्मचर्यनिष्ठ थे। शरीर,पर ममता नहीं रखते थे। उनका मन चौबीसों घंटे ध्यान के कोठे में रहता था।

वह बराबर दो-दो दिन का उपवास करते थे। पारण के दिन पहली पौरुषी में स्वाध्याय तथा दूसरी पौरुषी में ध्यान करने के पश्चात् तीसरी पौरुषी में गुरु के पास पहुँचते और उनकी वन्दना व नमस्कार करने के बाद पूछते : भंते ! आपकी अनुमति हो तो दो दिन के उपवास के पारण के लिए उत्तम, नीच

तथा मध्यम कुलों में भिक्षाचर्या के लिए जाना चाहता हूँ। गुरु कभी अपनी कोई आज्ञा शिष्यों पर लादते नहीं थे, अतः उत्तर देते—देवानुप्रिय! तुम्हें जिसमें सुख हो वैसा करो। परन्तु करणीय कार्य में विलम्ब मत करो।

शिष्य भिक्षाचर्या से लौटने के बाद पुनः गुरु की सेवा में उपस्थित होता और उनसे न बहुत दूर और न पास बैठकर भिक्षाचर्या के लिए गमनागमन के समय जिन जीवों की विराधना हुई हो अथवा व्रतों के पालन में जो अतिचार हुए हों, उनके लिए प्रतिक्रमण करता था। आहार में उसने जो-जो वस्तुएँ ग्रहण कीं और जिन वस्तुओं को ग्रहण योग्य न जानकर अस्वीकार कर दिया, उनकी आलोचना करता था। इसके बाद भिक्षा में लाया गया आहार गुरु को दिखा कर तब उसे ग्रहण करता था।

शिष्य के मन में जब भी कोई संशय, कोई कौतूहल जागता था, किसी बात को पूछने की इच्छा उत्पन्न होती थी तो वह गुरु की सेवा में उपस्थित होता था और गुरु उसकी शंकाओं का समाधान करते थे। यदि शिष्य बताता था कि उसने अन्य तीर्थिकों के मुँह से ऐसा सुना है, तो गुरु यदि उनके मत से सहमत होते थे तो व्यक्त कर देते थे और यदि सहमत नहीं होते थे तो उनके मत का खण्डन करने के बजाय यह बता देते थे कि हम इस विषय को इस प्रकार प्ररूपित करते हैं। वे खंडन-मंडन की भाषा का प्रयोग नहीं करते थे। वे कभी अपना कोई मत शिष्य के ऊपर लादने का प्रयास नहीं करते थे। उससे कभी यह नहीं कहते थे कि तुम भी मेरा यह मत स्वीकार कर लो। वे पूर्णरूप से शिष्य के स्वविवेक पर छोड़ देते थे कि उसे अपना मत स्थिर करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।[1]

संघ के सदस्यों से अपेक्षा की जाती थी कि वे निर्भय होकर जीना सीखें। इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक होता है मृत्यु के भय का त्याग। इसलिए साधक से अपेक्षा की जाती थी कि वह जीवन और मृत्यु के प्रति मध्यस्थ भाव रखे, न तो आयु से अधिक जीने की अभिलाषा करे और न शीघ्र मृत्यु की। जब साधक यह अनुभव करे कि रोग, अशक्ति आदि कारणों से अब उसके लिए शरीर का संरक्षण सम्भव नहीं रह गया है, तो उसे अनासक्त भाव ग्रहण करके किसी एकान्त स्थान में तृणशय्या (संस्तारक) बिछाकर आहारादि का उत्तरोत्तर परित्याग कर देना चाहिए। शरीर एवं कषायों को कृश करते हुए मरण का वरण करना चाहिए। इसे संलेखना व्रत कहा जाता था और इस प्रकार के मरण को पण्डितमरण अथवा समाधिमरण माना जाता था।

---

१. भगवती सूत्र।

निगंठ ज्ञातपुत्त के संघ में १४,००० श्रमण तथा ३६,००० श्रमणियाँ थीं। अनेक राजा, युवराज, कोटपाल, माडम्बिक (मडम्बों के स्वामी), कौटुम्बिक कुटुम्बों के स्वामी), श्रेष्ठी, सेनापति तथा सार्थवाह मुंडित होकर उनके संघ में अनगार श्रमण के रूप में सम्मिलित हो गये थे। उनके संघ में ७०० श्रमण उन्हीं के समान केवली, १३०० अवधिज्ञानी तथा ५०० मनःपर्यायज्ञानी थे। ७०० श्रद्धिधारी तथा ४०० वाद करने में अति कुशल थे। ३०० श्रमणों को निगंठ "तपुत्त से पूर्व का जितना श्रुत ज्ञान था, कंठाग्र था।

यह माना जाता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त के ७०० अनगार शिष्य भवभ्रमण के दुःख से छुटकारा पाकर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसी प्रकार ३६,००० अनगार शिष्याओं में से १४०० ने निर्वाण प्राप्त किया।[1]

---

१. कल्पसूत्र (पृ० २०८)।

निगंठ ज्ञातपुत्त के चतुर्विध संघ की प्रमुख विशेषता यह थी कि उसमें अनगार श्रमण एवं श्रमणियों को ही नहीं, गृहस्थ श्रावक एवं श्राविकाओं को भी तुल्य स्थान प्राप्त था। श्रमण-श्रमणी संस्था की भित्ति गृही श्रावक-श्राविकाओं के आधार पर ही सुदृढ हो सकती थी, इसलिए उन्होंने अनगार श्रमण-श्रमणियों की भाँति सागार (गृहस्थ) श्रावक-श्राविकाओं का भी संगठन किया और उनके लिए भी उन्हीं पाँच व्रतों का विधान किया जिनका पालन श्रमण-श्रमणी करते थे। अन्तर केवल इतना रखा कि श्रमण-श्रमणी जिन व्रतों का पालन सर्वतः करते थे, उन्हीं का पालन श्रावक-श्राविका अंशतः करते थे। इसी आधार पर संघ के अनगार सदस्यों को महाव्रती और सागार (गृहस्थ) सदस्यों को अणुव्रती कहा जाता था।

निगंठ ज्ञातपुत्त क्रिया के तीन करण मानते थे—स्वयं करना (कृत), दूसरे से करवाना (कारित) तथा करने वाले का अनुमोदन करना (अनुमोदित)। इस आधार पर मन, वचन, काय इन तीन योगों से क्रिया की नौ कोटियाँ हो जाती हैं, यथा १—मन से क्रिया करना (अर्थात् मन में संकल्प करना), २. मन से करवाना (अर्थात् दूसरे के मन में संकल्प उत्पन्न करना), ३. मन से क्रिया का अनुमोदन करना, ४. वचन से क्रिया करना अर्थात् ऐसे वचन बोलना जो उस क्रिया का कारण बने), ५. वचन से क्रिया करवाना (अर्थात् ऐसे वचन बोलना जिससे दूसरा इस क्रिया में प्रवृत्त हो), ६. वचन से क्रिया का अनुमोदन करना ७. काय से क्रिया करना, ८. काय से क्रिया करवाना, ९. काय (शरीरादि के संकेतों) से उस क्रिया को करने वाले का अनुमोदन करना। निगंठ ज्ञातपुत्त अनगार श्रमण-श्रमणियों से अपेक्षा करते थे कि वे प्राणी-हिंसा, असत्य भाषण, चोरी (अदत्त ग्रहण), मैथुन तथा परिग्रह का त्याग तीन करण तथा तीन योगों से अर्थात् नव कोटिपूर्वक करें, किन्तु गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं से इन व्रतों का पालन स्थूल रूप से अर्थात् दो करण (कृत तथा कारित) तथा तीन योगों से करने की अपेक्षा की जाती थी। इसी आधार पर अनगार साधकों को सर्वविरत अथवा सर्वत्यागी तथा गृहस्थों को देशविरत अर्थात् आंशिक त्यागी कहा जाता था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने जिस प्रकार अपने अनगार शिष्यों को पाँच महाव्रतों में स्थिर करने के लिए अनेकानेक व्रतों का विधान किया, उसी प्रकार अपने गृहस्थ शिष्यों को पाँच अणुव्रतों[१] में स्थिर करने के लिए सात शिक्षाव्रतों का विधान किया। जिस प्रकार शिक्षा में किसी पाठ को हृदयंगम करने के लिए उसका पुनः-पुनः अभ्यास आवश्यक होता है, उसी प्रकार इन व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास श्रावक-श्राविकाओं को शीलव्रत में स्थिर करता था। ये व्रत शिक्षक का कार्य करते थे। इसी आधार पर उन्हें शिक्षाव्रत कहा जाता था। इन सात शिक्षाव्रतों को सम्मिलित कर लेने पर निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा गृहस्थों के लिए प्ररूपित शीलव्रतों की कुल संख्या बारह हो जाती है।

इन व्रतों में सर्वप्रथम अहिंसा व्रत मेरुदंड के समान था। अपने अनगार शिष्यों से वे जबकि अपेक्षा करते थे कि वे जीवन में हिंसा का त्याग नव कोटि-पूर्वक करें, गृहस्थ शिष्यों से हिंसा का त्याग केवल कृत, कारित तथा मन, वचन काय इन छह कोटियों से करने की अपेक्षा की जाती थी। इसी आधार पर उन्हें स्थूल अहिंसाव्रती कहा जाता था। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे निरपराध स्थूल प्राणियों की हिंसा से विरत रहें, सो भी ऐसी हिंसा से जो उनके जीवन-यापन के लिए प्रयोजनभूत न हो।

निगंठ ज्ञातपुत्त की अहिंसा भावना के मूल में उनकी समता भावना थी। समतामूलक समाज की स्थापना तभी संभव है जब व्यक्ति अपने लिए जो इच्छाएँ करता है वही दूसरों के लिए भी करे। वह अपने लिए जो इच्छाएँ नहीं करता, उन्हें दूसरों के लिए भी न करे। व्यक्ति को यदि अपनी स्वतंत्रता प्रिय है और परतंत्रता अप्रिय है तो उसे अपना आचरण ऐसा बनाना चाहिए कि दूसरों की स्वतंत्रता का अपहरण न हो, उन्हें परतंत्रता का दुःख न भोगना पड़े। यदि वह अपने लिए सुख-सुविधाओं की कामना करता है तो उसे दूसरों की सुख-सुविधाओं का भी उतना ही ध्यान रखना चाहिए। वह अपने साथ जैसा व्यवहार चाहता है, वैसा ही व्यवहार उसे दूसरों के साथ करना चाहिए। वह यदि अपना शोषण नहीं चाहता तो उसे दूसरों का भी शोषण नहीं करना चाहिए। वह यदि स्वयं जीने की आकांक्षा रखता है, अपना वध नहीं चाहता तो उसे भी दूसरों का न वध करना चाहिए और न वध का संकल्प मन में लाना चाहिए।

---

१. इसको शीलव्रत भी कहा जाता था।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अनुभव किया कि समाज में विषमता का मूल 'स्व' और 'पर' के भेद की भावना में है। इसीलिए उन्होंने जिन गृहस्थ व्रतों का विधान किया उनका उद्देश्य था व्यक्ति को 'स्व' की परिधि से निकाल कर 'सर्व' की ओर अग्रसर करना, 'स्व' और 'पर' की विषमता मिटाकर समाज में समता स्थापित करना। इसीलिए उन्होंने अपने अनगार तथा गृहस्थ, दोनों प्रकार के शिष्यों के लिए समता भाव की दैनिक आय करने के उद्देश्य से सामायिकता पर बल दिया। उन्होंने अपने अनगार शिष्यों की भाँति गृहस्थ शिष्यों से भी अपेक्षा की कि वे दैनिक घोषणा करें :

खम्मेमि सब्व जीवा सब्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सब्व भूएसु वैरं मज्झं ण केणई।

मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सब प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से बैर नहीं है।

इस घोषणा के द्वारा उनका श्रावक पहले स्वयं सबको अभय प्रदान करता था, इसके बाद अपने लिए अभय की याचना करता था। वह ऐसे समाज की कामना करता था जिसमें न कोई भयोत्पादक बने और न भयभीत, न कोई त्रासक बने और न त्रस्त, न कोई उत्पीडक बने और न उत्पीडित, न कोई शोषक बने और न शोषित। इसीलिए वह सब प्राणियों से अपनी मैत्री की घोषणा करके वैरभाव का त्याग करता था, क्योंकि वह जानता था कि वैरभाव से वैर-भाव नहीं मिटता, वैर का नाश अवैर से ही सम्भव है। सामाजिक संगठन को दृढ करने के लिए समाज के सभी घटकों में वैरभाव का नाश तथा सबके प्रति मैत्री मानना आवश्यक है।

निगंठ ज्ञातपुत्त दूसरों के प्राण लेने को ही नहीं, दूसरे के प्राण लेने का संकल्प करना, दूसरे को परिताप पहुँचाना, क्रूर व्यवहार करना, शोषण करना, परिश्रम कराकर उचित पारिश्रमिक न देना, दूसरों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना—इन सब कृत्यों को भी स्थूल हिंसा-त्यागी श्रावक के लिए आचार-सम्मत नहीं मानते थे। इसी आधार पर वह अपने स्थूल-हिंसा त्यागी श्रावकों को निम्नोक्त कृत्यों से विरत रहने का उपदेश देते थे :

क्रोधादि के वश होकर आश्रित दास, दासियों, कर्मकरों, कर्म-करियों अथवा पशुओं को निष्प्रयोजन रस्सी आदि से बाँध देना अथवा उनको लाठी आदि से पीटना या उनके अंग-उपांगों को काट

देना या उन पर परिमाण से अधिक भार लाद देना या उनसे शक्ति से अधिक काम लेना या काम लेने के बाद उचित पारिश्रमिक तथा भोजन-पानी न देना या पारिश्रमिक में अकारण कटौती करना।

झूठ बोलना, चोरी करना तथा परस्त्रीगमन उस काल में भयंकर सामाजिक अपराध माना जाता था और उसके लिए कठोर राजदण्ड दिया जाता था। झूठा साक्ष्य देनेवालों की जीभ काट दी जाती थी तथा चोरों का वध कर दिया जाता था। परस्त्रीगमन करने वालों की सारी सम्पत्ति हरण कर ली जाती थी तथा उनको बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया जाता था। अथवा उनके शरीर के अंगों का छेदन-भेदन करके प्राणदण्ड दे दिया जाता था। उस काल के सभी धर्माचार्य इन सामाजिक अपराधों को अत्यन्त गर्हित मानते थे और एक स्वर से उनसे विरत रहने का उपदेश देते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने गृहस्थ शिष्यों में सचाई, ईमानदारी, प्रामाणिकता, सदाचार आदि सामाजिक गुणों का विकास करने के लिए इन शीलव्रतों को नये आयाम प्रदान किये। वे अपने स्थूल मृषा-त्यागी श्रावकों से अपेक्षा करते थे कि—

वे पुत्र-पुत्रियों के विवाह के निमित्त उनके कुल, रूप, गुण, आयु आदि के सम्बन्ध में असत्य अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण भाषण न करें।

कृषि-योग्य भूमि के क्रय-विक्रय में झूठ न बोलें। अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ या कम उपजाऊ भूमि को अधिक उपजाऊ या अल्प मूल्यवाली भूमि को अधिक मूल्यवाली न बतायें।

पशुओं के क्रय-विक्रय में झूठ न बोलें। थोड़ा दूध देने वाली गाय या भैंस को अधिक दूध देने वाली, अपरिश्रमी बैल को परिश्रमी या मन्दगामी घोड़े को शीघ्रगामी न बतायें।

यदि कोई धरोहर रखी हो तो उसका अपहरण न करें। उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना, उसे दबा लेना, बदल देना या उद्दिष्ट कार्य में न लगाकर वैयक्तिक उपयोग में ले आना सत्यव्रती गृहस्थ के लिए आचारसम्मत नहीं था।

राग-द्वेषवश झूठी गवाही न दें। आँखों से न देखी घटना को आँखों देखी घटना या आँखों देखी घटना को आँखों से न देखना बयान न करें।

वे गृहस्थ के निम्नलिखित कृत्यों को भी उसके द्वारा गृहीत सत्यव्रत का अतिचार मानते थे :

विना विचारे निष्प्रयोजन किसी को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से मिथ्या दोषारोपण करना, जैसे अचोर को चोर या अव्यभिचारी को व्यभिचारी बताना।

एकांत में दो मनुष्यों को वार्ता करते देखकर उनके विरुद्ध दुर्भावनावश राजद्रोह या स्वामीद्रोह की योजनाएँ बनाने का आरोप लगा देना या उनकी झूठी चुगली खाना।

एकांत में अपनी पत्नी द्वारा कही हुई किसी बात को दूसरों के सामने प्रकट कर देना। यही नियम व्रती श्राविका पर भी लागू होता था कि वह भी एकांत में पति द्वारा कही हुई कोई गोपनीय बात दूसरों के सामने प्रकट न करें।

सत्यासत्य अथवा हिताहित का विचार किये बिना बुरी सलाह या बुरे उपदेश देना। दो पक्षों में यदि झगड़ा हो तो एक पक्ष को बुरी शिक्षा देना या झगड़ा बढ़ानेवाले वक्तव्य देना।

दूसरों को धोखा देना या हानि पहुँचाने के उद्देश्य से झूठी मोहर, झूठे लेख (दस्तावेज) या झूठे हस्ताक्षर बनाना।

निगंठ ज्ञातपुत्त अपने अनगार शिष्यों से अपेक्षा करते थे कि वे कोई भी अदत्त वस्तु, यहाँ तक कि तिनका भी स्वामी से पूछे बिना ग्रहण न करें। किन्तु वे गृहस्थों से स्थूल चोरी के त्याग की अपेक्षा करते थे। सेंध लगाकर चोरी करना, किसी की वस्तु बिना पूछे उठा लेना, दूसरे का गड़ा धन निकाल लेना, पथिकों को लूटना, गाँठ खोलकर, जेब काटकर, ताला खोलकर या तोड़कर दूसरे की वस्तु ले लेना, डाका डालना, गाय, पशु, स्त्री आदि का हरण करना, राज्य को देय कर न देना, व्यापार में बेईमानी करना, ठगना, पड़ी—मिली वस्तु के स्वामी का पता लगाने की कोशिश न करना अथवा पता लग जाने पर भी न लौटाना—इन सब कृत्यों को वे स्थूल चोरी का ही रूप मानते थे। इसीलिए वे अपने व्रती श्रावकों से अपेक्षा रखते थे कि वे इन सब कृत्यों से अपने को विरत रखें। साथ ही वे निम्नोक्त कृत्यों को भी गृहस्थ द्वारा अंगीकृत अस्तेय व्रत का अतिचार मानते थे :

चोर के द्वारा चोरी करके लायी हुई वस्तु खरीदना, चोरी की प्रेरणा देना, चोर को शरण देना, उसे शस्त्रास्त्र या आहारादि देकर उसकी सहायता करना।

धान्य, तेल, केसर आदि अधिक मूल्यवाली वस्तुओं में अल्प मूल्यवाली वस्तुएँ मिला देना, खाद्य वस्तुओं में अखाद्य वस्तुएँ मिला देना, चोरी से प्राप्त वस्तु का रूप बदल देना।

राज्य के नियमों को भंग करना, बिना शुल्क दिये अपना माल एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाना, बिना अनुमतिपत्र के परराज्य में प्रवेश करना, राज्यहित के विरुद्ध गुप्त योजनाएँ बनाना अथवा षडयंत्र रचना, कर-चोरी करना।

तौलने के बाट, नापने के गज आदि जाली रखना। तौलने, नापने, गिनने आदि में बेईमानी करना।

निगंठ ज्ञातपुत्त मानते थे कि समाज में उच्चतर जीवन का विकास संयम पालन से ही सम्भव है, असंयम से नहीं। इसीलिए वह अपने अनगार शिष्यों से पूर्ण ब्रह्मचर्यवास की अपेक्षा करते थे। संघ मे श्रमण-श्रमणियों का एक साथ गमन करना, ठहरना या एक दूसरे से कोई सेवा लेना वर्जित था। श्रमणियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने ही वर्ग के साथ रहें। उनके लिए अकेले भिक्षाचर्या के लिए जाना वर्जित था। तरुण श्रमणी से अपेक्षा की जाती थी कि वह रात्रि में स्थविरा के निकट शयन करे, वह आचार्य से पाँच हाथ दूर, उपाध्याय से छः हाथ दूर तथा स्थविर से सात हाथ दूर बैठकर उनकी वन्दना करे, बाहर निकलने पर अपने शरीर के अंगों को आवृत रखे और पुरुषों की काया की छाया से भी भयभीत रहे। इसी प्रकार श्रमणों से अपेक्षा की जाती थी कि जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली का सदा डर रहता है, वैसे ही वे भी स्त्री की छाया से डरें। किन्तु गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के लिए मैथुन सेवन का पूर्ण त्याग सम्भव नहीं हो सकता था। इसलिए निगंठ ज्ञानपुत्त अपने व्रती श्रावक-श्राविकाओं से अपेक्षा करते थे कि वे काम-सेवन की मर्यादा स्थिर कर लें तथा श्रावक स्वपत्नी को छोड़कर अन्यत्र तथा श्राविका स्वपति को छोड़कर अन्यत्र मैथुन-सेवन का परित्याग कर दें। इस व्रत का उद्देश्य था समाज में सदाचार की प्रतिष्ठा करना, क्योंकि अनियंत्रित काम-भोग न केवल व्यक्ति को, वरन समाज और राष्ट्र को भी दुर्बल बनाता है, समाज में अनीति और दुराचार बढ़ाकर उसे पतनोन्मुख बनाता है।

निगंठ ज्ञातपुत्त के काल में समाज में धन-वृद्धि के साथ उद्दाम भोग की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। स्त्री की भी गणना पुरुष की भोग्य वस्तुओं में की

जाती थी। धनी-मानी गृहस्थ जहाँ भोग की अन्य वस्तुओं का संग्रह करते थे, वहीं स्त्रियों का भी संग्रह करते थे। सम्पन्न वर्गों में बहु विवाह का प्रचलन था। वेश्यागमन को बुरा नहीं माना जाता था। गणिका को समाज में प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त था। कुछ काल के लिए किसी रूपवती गणिका को रखैल बना लेना राजाओं और धनिकों के लिए सामान्य बात थी। घर की दासी भी भोग की वस्तु मानी जाती थी। इसीलिए निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने स्वपत्नी-संतोष व्रती श्रावकों के लिए प्ररूपित किया कि निम्नलिखित कृत्यों से उनका व्रत-भंग होगा :

थोड़े समय के लिए पत्नी रूप में परिगृहीत किसी गणिका, रखैल आदि के साथ सहवास।

किसी अपरिगृहीता स्त्री, यथा वाग्दत्ता, अविवाहिता कन्या, विधवा, पति द्वारा परित्यक्त, वेश्या, घर में काम करनेवाली दासी आदि के साथ सहवास।

अनंगक्रीड़ा (परस्त्रियों का कामोत्तेजनावश आलिंगन करना इत्यादि), हस्तमैथुन, अप्राकृतिक रीति से काम-सेवन।

कन्यादान को पुण्य समझकर अथवा रागादि के कारण अपनी संतान तथा आश्रित कुटुम्बी जनों को छोड़कर ग्राम या नगर के लड़के-लड़कियों में विवाह-सम्बन्ध कराना।

काम-भोग की तीव्र अभिलाषा रखना, मैथुनेच्छा को उद्दीप्त करने के लिए मादक वस्तुओं, वाजीकरण औषध आदि का सेवन करना।

निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा प्ररूपित गृहस्थ व्रतों में सबसे महत्त्वपूर्ण था परिग्रह-परिमाण व्रत। उन्होंने समाज में बढ़ती हुई विषमता का निवारण करने के उद्देश्य से अपने व्रती श्रावक-श्रविकाओं को प्रेरणा दी कि वे स्वेच्छा से अपने परिग्रहों की मर्यादा स्थिर कर लें, क्योंकि संग्रह-वृत्ति ही समाज में विषमता तथा विग्रह का मूल कारण बनती है। वे अपने अनगार शिष्यों से तो पूर्ण अपरिग्रही बन जाने की अपेक्षा करते थे, फलस्वरूप उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वस्त्र, पात्रादि का भी परिग्रह त्याग देते थे। किन्तु गृहस्थ शिष्यों से पूर्ण परिग्रह त्याग सम्भव नहीं था। इसीलिए वह उनसे अपेक्षा करते थे कि

वे अपनी इच्छाओं का परिमाण स्थिर कर लें, क्योंकि ममत्व-बुद्धि ही परिग्रह-वृत्ति का कारण होती है। इसीलिए उनसे अपनी आसक्ति का क्षेत्र परिमित कर लेने को कहा जाता था।

उस काल में गृहस्थ के परिग्रहों की गणना नौ प्रकार से की जाती थी :

(१) क्षेत्र—खेती योग्य भूमि। (२) वास्तु—भूमि के नीचे बने भूमिगृह तथा भूमिगृह पर बने भवन आदि। (३) हिरण्य—चाँदी के बर्तन, आभूषण तथा अन्य उपकरण। (४) सुवर्ण—सोने के बर्तन, आभूषण तथा अन्य उपकरण। (५) धन—इसका वर्गीकरण चार प्रकार से किया जाता था : गणिम—गिन कर ली जानेवाली वस्तुएँ; धरिम—तौल कर ली जानेवाली वस्तुएँ; मेय—माप कर ली जानेवाली वस्तुएँ तथा परिच्छेद्य—परीक्षा करके ली जानेवाली वस्तुएँ। (६) धान्य—चावल, जौ, मसूर, गेहूँ, मूँग, उड़द, तिल, चना, सन इत्यादि। (७) द्विपद—दास, दासी, हंस, मयूर, शुक, सारिका आदि। (८) चतुष्पद—गाय, भैंस, बैल, अश्व, ऊँट, हाथी, खच्चर, भेड़, बकरी आदि। (९) कुप्य—सोने और चाँदी के अतिरिक्त लोहा, ताँबा, पीतल, सीसा आदि तथा उससे निर्मित गृहोपकरण।

निगंठ ज्ञातपुत्त अपने व्रती श्रावक-श्राविकाओं से अपेक्षा करते थे कि वे स्वेच्छा से अपने विविध परिग्रहों की जो मर्यादा स्थिर कर लें उसका अतिक्रमण न करें। गृहस्थ अपनी इच्छाओं का कितना परिमाण स्थिर करता था, यह उनके लिए अधिक महत्त्व नहीं रखता था, क्योंकि उनका उद्देश्य समाज या व्यक्ति पर ऊपर से कोई अनुशासन लादना नहीं था। वे अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जानते थे कि ऊपर से आरोपित अनुशासन् टिकाऊ नहीं होता। सच्चा अनुशासन आत्मानुशासन से ही सम्भव होता है। इसीलिए उन्होंने अपने व्रती गृहस्थों को पूरी छूट प्रदान की कि वे जितना साध्य समझते हों उतना अपनी इच्छाओं का परिमाण स्थिर कर लें। एक बार यदि वे सही दिशा में कदम उठा लेते हैं तो फिर उनके लिए उस दिशा में और आगे बढ़ना सरल हो जायगा।

निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा गृहस्थों के लिए प्ररूपित पाँच अणुव्रतों का उद्देश्य उन्हें संयममार्ग के प्रवेशद्वार पर स्थापित कर देना था। इसके बाद संयममार्ग पर और दृढ़ता से आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले नैतिक श्रावकों को दृष्टि में रखकर उन्होंने सात शिक्षाव्रतों का विधान किया ताकि वे अपने व्रतपालन में

और विशुद्धता ला सकें—वे अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों को उत्तरोत्तर परि-सीमित करके अपने जीवन को परार्थ के लिए समर्पित कर सकें ।

इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने नैष्ठिक श्रावक-श्राविकाओं के लिए प्ररूपित किया कि वे ऊर्ध्व, अधः तथा तिर्यक्[1] दिशा तथा विविध विदिशाओं में अपनी प्रवृत्तियों की क्षेत्र-मर्यादा स्थिर कर लें, अपने दैनिक उपभोग-परिभोग की समस्त वस्तुओं का परिमाण नियत कर लें और गृहीत मर्यादाओं को प्रति दिन नियम लेकर और संकुचित करने का प्रयास करें (जैसे, मैं आज अमुक समय तक केवल इन-इन वस्तुओं का सेवन करूँगा अथवा इन वस्तुओं का सेवन त्याग दूँगा अथवा आज या अमुक समय तक अपनी गतिविधियों को अमुक क्षेत्र तक सीमित रखूँगा)।

व्रती गृहस्थों को स्थूल अहिंसा व्रत में दृढता से स्थिर करने के लिए उन्होंने विधान किया कि वे सभी प्रकार की निष्प्रयोजन हिंसा (अनर्थ दंड) से अपने को विरत कर लें । वे अपध्यान न करें । प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग अथवा अप्रिय वस्तु या व्यक्ति का संयोग होने पर अथवा अप्राप्त भोगों की कामना से मन को व्याकुल न करें । क्रोध, ईर्ष्या, कपट, लोभ, अहंकार आदि के वश होकर मन में क्रूर विचार न लायें । शुभ प्रवृत्तियों के अनुसरण में आलस्य या असावधानी न वरतें । हिंसात्मक कार्यों में सहायक न बनें । दूसरों को पापकर्मों में प्रवृत्त होने का उपदेश न दें । वे निम्न अतिचारों से बचने का प्रयत्न करे :

हास्य या व्यंग्य में विकारयुक्त वचन बोलना अथवा विकारयुक्त चेष्टाएँ करना ।

हाथ, पैर, आँख, मुँह, नाक, भौंह आदि भाँडों के समान मटका कर दूसरों के मन में विकार उत्पन्न करना ।

निष्प्रयोजन झूठी शेखी बघारना अथवा व्यर्थ की बकवाद करना ।

हिंसा के साधनभूत शस्त्रास्त्रों का निष्प्रयोजन वितरण करना ।

आवश्यकता से अधिक उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का संग्रह करना ।

अपने अनगार शिष्यों की भाँति उन्होंने अपने व्रती श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी दैनिक सामायिकता का विधान किया । अनगार श्रमण जब कि आठों

---

१. ऊर्ध्व तथा अधः दिशा के मध्य की दिशा को तिर्यक् (तिरछी) दिशा माना जाता था ।

प्रहर अपने चित्त को समतायुक्त रखता था, व्रती गृहस्थों से अपेक्षा की जाती थी कि वे दिन में तीन वार शरीर का हलन-चलन पूर्णतया रोककर, मन को समस्त पापमूलक विचारों से रहित करके चित्त में समस्त प्राणियों के प्रति समता भाव की आराधना करें। सामायिक के समय घरेलू बातों में मन दौड़ाना या विवेक-रहित कषायपूर्ण वचन बोलना या सामायिक के नियत समय को विस्तृत कर देना या उसे व्यवस्थित रीति से न करना इस व्रत का अतिचार माना जाता था।

व्रती श्रावक-श्राविकाओं को त्याग मार्ग की ओर अधिकाधिक प्रेरित करने के उद्देश्य से उन्होंने उनके लिए पोषधोपवास का विधान किया। इस व्रत का पालन करने वाला श्रावक नियत समय के लिए अपना समस्त आचरण अनगार श्रमण के सदृश बना लेना था। पोषध का अर्थ पुष्ट करना होता है, अतः संयम को पुष्ट करने वाला उपवास पोषधोपवास कहा जाता था। पोषधोपवास व्रतधारी श्रावक से अपेक्षा की जाती थी कि वह अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों पर कम से कम एक दिन और एक रात के लिए पोषधशाला में स्थिर होकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के खाद्य पदार्थों का सेवन दोनों समय या एक समय के लिए त्याग करके उपवास करे। समस्त शरीर-सत्कार, जैसे स्नान, दंतधावन, तैल-मर्दन, अनुलेपन, अलंकरण त्याग दे और आजीविकोपार्जन के लिए किये जाने वाले कर्मों से अंशतः या सर्वतः विरत होकर ब्रह्मचर्यवास करे। वह अनगार श्रमण की भाँति समस्त क्रियाएँ करे। उन्हीं की भाँति पोषधशाला में जिस स्थान पर आसन या शय्या ग्रहण करे उसका सावधानी से प्रतिलेखन (निरीक्षण) तथा प्रमार्जन कर ले, सोने के लिए लकड़ी के पाटा का प्रयोग करे तथा मल-मूत्र त्यागने की भूमि का पहले से सावधानीपूर्वक प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन कर ले ताकि प्रमादवश किसी निरपराध जीव की विराधना न हो।

दान को उस काल के सभी धर्माचार्य पुण्य कार्य मानते थे। निर्ग्रंथ संघ के व्रती श्रावक-श्राविकाओं से भी अपेक्षा की जाती थी कि वे भोगोपभोग की जो वस्तुएँ संगृहीत करें अथवा जो भी द्रव्य उपार्जित करें उसका एक भाग दान कर दें। दान की वृत्ति जहाँ एक ओर गृहस्थों में उदारता, अनुकम्पा, परोपकार, मैत्री आदि सद्गुणों का विकास करती है, वहीं उनके परिग्रहों को सीमित रखने में भी सहायक होती है। श्रावक-श्राविकाओं से अपेक्षा की जाती थी कि उनके द्वार पर जो निर्ग्रंथ श्रमण-श्रमणी निर्दोष आहारादि की गवेषणा करते हुए पधारें उनका वे योग्य सामग्री से सत्कार करें।

निर्ग्रंथ संघ के अनगार सदस्यों की भाँति व्रती श्रावक-श्राविकाओं से भी

अपेक्षा की जाती थी कि वे आचरण की दैनिक आलोचना करें और यदि गृहीत व्रतों के पालन में उनसे प्रमादवश कोई त्रुटि हुई हो तो दोषों के परिहार के लिए प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त करें ।

निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा प्ररूपित द्वादश गृहस्थ व्रतों का उद्देश्य व्रती श्रावक-श्राविकाओं की दैनिक जीवन-चर्या को उत्तरोत्तर श्रमण जीवन-चर्या के सन्निकट ले आना था । साधना के पथ पर निग्रंथ संघ के अनगार सदस्यों की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए जिस प्रकार चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया था उसी प्रकार व्रती गृहस्थों के लिए एकादश श्रावक प्रतिमाओं का विधान किया गया था । प्रतिमा शब्द का अर्थ बिम्ब, प्रतिबिम्ब, प्रतिछाया, प्रतिकृति आदि होता है । व्रती गृहस्थ जब विशेष अभिग्रह (प्रतिज्ञा) धारण करके अपने जीवन को श्रमण की प्रतिकृति बना लेता था तो उसे प्रतिमाधारी श्रावक कहा जाता था ।

सम्यक् (सही) दृष्टि रखने वाला गृहस्थ प्रथम-प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता था । ऐसे श्रावक की दृष्टि सदा दूसरे के गुणों पर रहती थी, दोषों पर नहीं । किसी दुःखी प्राणी को देखकर उसके मन में सहज करुणा का भाव जाग उठता था । वह निःस्वार्थ भाव से परोपकार करने में प्रसन्नता अनुभव करता था । सम्यक्त्व में स्थिर श्रावक के पाँच चिह्न माने जाते थे :

१. व्यर्थ के झगड़ों तथा कदाग्रहों से दूर रहना, कषायों का उपशमित होना (शम) ।

२. गृहस्थाश्रम में रहने पर भी मन का झुकाव त्याग की ओर होना, तपते लोहे पर चलने में जिस प्रकार भय लगता है, उसी प्रकार सांसारिक प्रपंचों में फँसने से मन का भयभीत रहना (संवेग) ।

३. सांसारिक भोगों के प्रति माध्यस्थ भाव (निर्वेद) ।

४. सभी प्राणियों पर दयाभाव (अनुकम्पा) ।

५. आत्मा और परलोक में विश्वास (आस्तिक्य) ।

सम्यक् दृष्टिधारी गृहस्थ जब श्रावक-व्रतों का पालन करना आरम्भ कर देता था तो उसे द्वितीय प्रतिमाधारी, प्रति दिन नियमित रूप से तीन बार सामायिक करने पर तृतीय प्रतिमाधारी और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर प्रोषधोपवास करने पर चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावक कहा जाता था ।

पाँचवी प्रतिमा धारण करने पर श्रावक शरीर-सत्कार त्याग कर दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्यवास तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा स्थिर करके महीने में कम से

कम एक रात्रि कायोत्सर्ग मुद्रा में बिताता था। छठी प्रतिमा धारण करने पर वह दिन की भाँति रात्रि में भी ब्रह्मचर्यवास का नियम ले लेता था।

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक अनगार श्रमण की भाँति मूल, कंद, फल, बीज तथा हरी वनस्पति का भक्षण त्याग देता था, क्योंकि इनमें जीव का वास होने से इन्हें सचित्त माना जाता था। आठवीं प्रतिमा में वह आजीविका के लिए स्वयं से हिंसा करना तथा नवीं प्रतिमा में दूसरों से हिंसा कराना त्याग देता था।

दसवीं प्रतिमा ग्रहण करने पर वह अनगार श्रमण की भाँति अपने उद्देश्य से तैयार किया गया भोजन तथा घर के किसी कारोबार में अनुमति, सम्मति या आदेश देना त्याग देता था।

ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक अपना सिर मुण्डित कराकर समस्त आचरण अनगार श्रमण के सदृश बना लेता था और अपने ज्ञातिजनों के यहाँ गोचरी करके उदरपोषण करता था।

निग्रंथ संघ में व्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या चार लाख सतहत्तर हजार थी। इनमें से व्रती श्रावकों की संख्या एक लाख उनसठ हजार तथा व्रती श्राविकाओं की संख्या उनसे दूनी अर्थात् तीन लाख अठारह हजार थी।[1]

उपासक दशांग में निगंठ ज्ञातपुत्त के दस अग्रश्रावकों तथा श्राविकाओं का विवरण मिलता है। वे अंग, मगध, विदेह, काशी, कोसल तथा पंचाल जनपदों के निवासी थे। सभी को समाज में अत्यंत सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। सभी कोट्यधीश थे। किसी के पास चौबीस हिरण्य कोटि सम्पत्ति थी तो किसी के पास अठारह हिरण्य कोटि और किसी के पास बारह हिरण्य कोटि। इनमें से एक अग्रश्रावक पहले आजीवकोपासक था, बाद में वह निगंठोपासक बन गया।

इन अग्रश्रावकों में हमें वाणिज्यग्राम के आनन्द गाहापति (गृहपति) की विस्तृत जीवन-कथा मिलती है। वाणिज्यग्राम वैशाली के ठीक सामने गंडकी नदी के पश्चिमी तट पर स्थित था। आनन्द गृहपति वाणिज्यग्राम का एक प्रमुख व्यक्ति था। राजा के कोष्ठागार के लिए अन्न-जल-वस्त्र आदि की चिन्ता का भार उसी पर था। राजा जब सेना सहित प्रयाण करता था तब वही सेना के लिए रसद की व्यवस्था करता था। उसके पास पाँच सौ हल भूमि थी जिस पर वह दास, दासियों, कर्मकरों तथा कर्मकरियों के द्वारा खेती कराता था। उसके पास दस-दस हजार पशुधन वाले चार व्रज थे। पाँच सौ शकट यात्रा के लिए

---

१. कल्पसूत्र, पृ० २०८।

और पाँच सौ शकट माल ढोने के लिए थे। चार पोत (जलयान) जलमार्ग से यात्रा के लिए और चार पोत जलमार्ग से माल ढोने के लिए थे। उसके पास बारह हिरण्य कोटि सम्पत्ति थी, जिसमें से चार हिरण्य कोटि सम्पत्ति गृह तथा गृहोपकरणों के रूप में थी, चार हिरण्य कोटि लेन-देन के व्यापार (वृद्धि) में लगे थे तथा चार हिरण्य कोटि निधान (कोष) में थे।

आनंद गृहपति सभी दृष्टियों से अत्यंत सफल व्यक्ति कहा जा सकता था। वह कभी पराभूत नहीं होता था। राजा, युवराज, सेनापति, श्रेष्ठी, सार्थवाह, बड़े-बड़े कुटुम्बों के स्वामी उसके मंत्रणा लेते थे। वह उनकी गुह्य बातों को जानता था। अपने कुटुम्ब के लिए वह खलिहान में धान्यादि निकालने के लिए गाड़ी जानेवाली मेढ़ी के समान था। सभी कार्यों में वह सदा केन्द्रबिन्दु में रहता था। उससे पूछे बिना कुटुम्ब में कोई कार्य नहीं किया जाता था।

उसका दाम्पत्य जीवन भी अत्यंत सफल था। उसकी भार्या शिवानंदा अत्यंत रूपवती एवं सुलक्षणा थी। वह अपने पति में अत्यंत अनुरक्त थी। पति के प्रतिकूल होने पर भी कभी रोष नहीं प्रकट करती थी और सदा प्रिय वचन बोलती थी। दोनों का जीवन पाँच काम भोगों का भोग करते हुए अत्यंत सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

केवली (सर्वज्ञ) बनने पर अपने पृथक् तीर्थ की स्थापना करने के बाद दूसरे वर्ष निगंठ ज्ञातपुत्त अपने ग्रामानुग्राम विहार के अनुक्रम में वाणिज्यग्राम पहुँचे तथा ग्राम के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित द्युतिपलाश चैत्य में समवसृत हुए। सभी नगरनिवासी उनकी वंदना के लिए उमड़ पड़े। आनंद भी कोरंट-पुष्पों की माला से अलंकृत छत्र धारण किये और बहुत-से मनुष्यों से घिरा हुआ पैदल ही उनकी वंदना के लिए पहुँचा। वह उनकी धर्मकथा से अत्यंत प्रभावित तथा तुष्ट हुआ। उनके निकट जाकर बोला : भंते ! निग्रंथ प्रवचन मुझे सत्य, यथार्थ और रुचिकर लगा। आपके निकट जिस प्रकार बहुत-से राजा, युवराज, नगररक्षक, सेनापति, श्रेष्ठी, सार्थवाह और कुटुम्बपति मुंडित होकर अनगार श्रमण बन गये हैं, मैं वैसा करने में समर्थ नहीं हूँ। अतः मैं आपके निकट गृहस्थ धर्म अंगीकार करना चाहता हूँ।

आनन्द ने निगंठ ज्ञातपुत्त के निकट स्थूल हिंसा, स्थूल मृषा तथा स्थूल चोरी का त्याग, स्वदारा-संतोष, इच्छा-परिमाण तथा उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत अंगीकार किये। लौटकर उसने अपनी पत्नी शिवानंदा को व्रत ग्रहण की

सूचना दी। शिवानंदा भी शीघ्रगामी चार घंटोंवाले रथ पर सवार होकर द्युति-पलाश चैत्य पहुँची और उसने भी निगंठ ज्ञातपुत्त के निकट गृहस्थ व्रत ग्रहण कर लिये।

आनंद ने निगंठ ज्ञातपुत्त के निकट प्रतिज्ञा की कि मैं अपने परिग्रहों में और वृद्धि नहीं करूँगा। जितनी सम्पत्ति मेरे पास वर्तमान है उसी से संतोष करूँगा। उसने उनके निकट अपने दैनिक उपभोग-परिभोग में आनेवाली समस्त वस्तुओं का परिमाण स्थिर कर लिया। इस परिग्रह-परिमाण का प्रभाव यह हुआ कि धीरे-धीरे संयम तथा त्याग मार्ग में उसकी प्रवृत्ति बढ़ती गयी। चौदह वर्षों तक शीलव्रतों को पालने तथा प्रत्याख्यान (त्याग) और पोषधोपवास करने से उसका आत्मा क्रमशः इतना संस्कारित हो गया कि अंत में अधेड़ अवस्था को प्राप्त होने पर उसने कुटुम्ब का समस्त भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिया और अपना जीवन पूर्ण रूप से निगंठ ज्ञातपुत्त की धर्म विज्ञप्ति के अनुसार बिताना आरम्भ कर दिया।

वाणिज्यग्राम के निकट कोल्लाग सन्निवेश था जहाँ आनंद के बहुत-से आत्मीय, स्वजन, सम्बन्धी, मित्र तथा परिजन रहते थे। वहाँ ज्ञातिकुल की एक पोषधशाला भी थी। आनंद वाणिज्यग्राम को त्याग कर कोल्लाग सन्निवेश की उसी पोषधशाला में निवास करने लगा। उसने गृहस्थी सम्बंधी समस्त कार्यों से न केवल अपना हाथ खींच लिया, वरन अपने घर का अशन-पान ग्रहण करना भी छोड़ दिया। उसने एकादश श्रावक प्रतिमाओं का पालन करते हुए अपनी जीवनचर्या पूर्ण रूप से अनगार श्रमणों के सदृश बना ली। निरंतर उपवास करने से उसका शरीर अत्यंत कृश हो गया।

आनंद श्रमणोपासक ने जब अनुभव किया कि उसका शरीर अब और अधिक दिन चलनेवाला नहीं है तो उसने पंडितमरण के उद्देश्य से आहार-पानी त्याग कर मन को समस्त ऐहिक तथा पारलौकिक कामनाओं से रहित करके संलेखना व्रत धारण कर लिया। फलस्वरूप उसके आत्मा में अवधिज्ञान (लोक के समस्त रूपी पदार्थों का ज्ञान) उत्पन्न हो गया।

एक दिन निगंठ ज्ञातपुत्त के शिष्य गौतम गणधर वाणिज्यग्राम में उत्तम, निम्न तथा मध्यम कुलों में गोचरी करने के बाद जब कोल्लाग सन्निवेश के समीप से वापस लौट रहे थे तो उन्होंने सुना कि आनंद श्रमणोपासक ने पोषध-शाला में आमरण संलेखना व्रत धारण कर रखा है।

यह सुनकर गौतम गणधर कोल्लाक सन्निवेश की पोषधशाला की ओर चल पड़े। आनंद ने गौतम गणधर को आते देखकर भारी प्रसन्नता व्यक्त की और कहा : भंते ! उग्र तपस्या के कारण मैं अत्यंत कृश हो गया हूँ। शरीर में नसें ही नसें रह गयी हैं। अतः मैं देवानुप्रिय के समीप आकर चरणों में तीन बार मस्तक झुकाकर वंदना करने में समर्थ नहीं हूँ। भंते ! आप ही स्वेच्छा से मेरे निकट पधारिये ताकि मैं आपकी वंदना कर सकूँ।

आनंद ने लेटे ही लेटे गौतम गणधर की वंदना की और पूछा : भंते ! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है ?

गौतम गणधर ने उत्तर दिया : हाँ, हो सकता है।

आनंद ने कहा : भंते ! यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है तो मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं पाँच सौ योजन तक समस्त पदार्थों को जानने और देखने लगा हूँ।

गौतम गणधर ने विश्वास नहीं किया, कहा : आनंद, यह ठीक है कि गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है, किन्तु इतने विशाल क्षेत्र का नहीं। तुम इस मिथ्या भाषण के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त करो।

आनंद ने पूछा : भंते ! क्या जिन-प्रवचन में सत्य एवं तथ्यपूर्ण भाषण के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त का विधान है ?

गौतम गणधर ने उत्तर दिया : नहीं।

आनंद ने कहा : भंते ! जिन-प्रवचन में यदि सत्य एवं तथ्यपूर्ण भाषण के लिए आलोचना तथा प्रायश्चित्त का विधान नहीं है तो आप ही इस विषय में आलोचना तथा प्रायश्चित्त कीजिए।

गौतम गणधर शंकित चित्त वहाँ से द्युतिपलाश चैत्य वापस लौटे, जहाँ उनके गुरु निगंठ ज्ञातपुत्त समवसृत थे। उन्होंने गुरु की वंदना की और उनसे न बहुत दूर और न बहुत पास नीचा आसन ग्रहण करके उन्हें सारी घटना सुनायी और कहा : भंते ! इस दोष के लिए क्या आनन्द श्रमणोपासक को आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना चाहिए या मुझे ?

गुरु ने उत्तर दिया : गौतम ! इस दोष के लिए तुम्हे ही आलोचना तथा प्रायश्चित्त करना चाहिए और आनन्द से क्षमायाचना करनी चाहिए।

गौतम गणधर ने 'तथेति' कहकर गुरु का वचन शिरोधार्य किया और

आलोचना तथा प्रायश्चित्त करने के बाद आनन्द के निकट जाकर उससे क्षमा-याचना की।[1]

इस घटना से प्रकट होता है कि निग्रंथ संघ में व्रती गृहस्थों और अनगार श्रमणों को किस प्रकार तुल्य स्थान प्राप्त था। साधना के क्षेत्र में दोनों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता था। प्रत्येक सदस्य को निर्भय होकर अनुभूत सत्य की घोषणा करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। निग्रंथ प्रवचन की वाचना देनेवाला संघ का ज्येष्ठतम सदस्य भी गृही शिष्य के सम्मुख स्वदोष की स्वीकृति में किसी प्रकार की हीनता या लज्जा का अनुभव नहीं करता था और अपनी भूल सुधारने के लिए सदैव तत्पर रहता था।

●

---

१. उपासक दशांग, पृ० १२८-५२।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने तीर्थंकर बनने के बाद अपने युग के समाज को कितने व्यापक रूप में प्रभावित किया, इस सम्बन्ध में आगम ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। उनके निर्ग्रंथ संघ ने समाज में नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना की। उसने ऐसे व्रती गृहस्थों और उनके पथप्रदर्शक के रूप में ऐसे अनगार श्रमण-श्रमणियों का निर्माण किया जो दीपक की भाँति स्वयं को प्रकाशित करके अपने प्रकाश की प्रभा से समाज में फैले अंधकार को दूर करने का प्रयास कर सकें। उनकी धर्म-विज्ञप्ति स्व-पर सबके लिए कल्याणकारी थी। उनके निग्रंथ संघ का लक्ष्य सर्वोदय था। उसने समाज में समता-आन्दोलन का नेतृत्व किया। जन्मना जातिवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया और घोषणा की कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। संघ में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न जयघोष नामक एक अनगार थे। एक बार वे गोचरी करते हुए वाराणसी नगरी के बाहर एक वेदज्ञ ब्राह्मण की यज्ञशाला में पहुँच गये। यज्ञकर्ता ब्राह्मण विजयघोष ने उन्हें भिक्षा देने से इन्कार कर दिया, कहा : इस यज्ञमंडप का भोजन केवल वेदज्ञ ब्राह्मणों के लिए है।

अनगार जयघोष ने वहाँ पर एकत्र ब्राह्मणों को सम्बोधित करके कहा : विप्रों, तुम वेद, यज्ञ अथवा धर्म का मर्म नहीं समझते। तुम यज्ञवादी विप्र राख में ढँकी अग्नि के समान तत्त्व से अनभिज्ञ हो।

इसके बाद उन्होंने उन विप्रों को ब्राह्मण की परिभाषा बतायी। समझाया कि जो तपे हुए सोने की भाँति राग-द्वेष, भयादि मलों से रहित होते हैं, कमल की भाँति कामभोगों में अलिप्त रहते हैं, लोभ और आसक्ति-रहित, अहिंसक, सत्य-वादी तथा अकिंचन होते हैं वे ही सच्चे ब्राह्मण होते हैं।

यज्ञों को टूटी हुई नाव के समान बतानेवाले औपनिषदिक ऋषियों की भाँति उन्होंने भी कहा कि वेद और यज्ञ दुराचारी की रक्षा नहीं कर सकते। उन्होंने उन विप्रों को समझाया कि साधुत्व की पहचान बाह्य वेश से नहीं होती। सच्चा साधु ज्ञानसम्पन्न और चरित्रसम्पन्न होता है। कोई सिर मुड़ा लेने से श्रमण नहीं होता, ओंकार का जप करने से ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने से मुनि या वल्कलधारी होने से तापस नहीं होता। समता का आचरण करने से

ही श्रमण, ब्रह्मचर्य वास करने से ब्राह्मण, ज्ञानवान् होने से मुनि तथा तप करने से तपस्वी होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी कर्म से होते हैं।[1]

निग्रंथ संघ उच्च जाति, कुल अथवा गोत्र में उत्पन्न होने का मद त्याग देने पर सर्वाधिक बल देता था। निगंठ ज्ञातपुत्त मानते थे कि जैसे केंचुली साँप को अन्धा कर देती है वैसे ही गोत्र-मद और कुल-मद मनुष्य को अन्धा कर देता है। वह कहते थे : यह जीव संसार-भ्रमण करता हुआ कितनी ही बार उच्च व निम्न कुलों तथा गोत्रों में जन्म ले चुका है। अतएव यह जानकर कौन बुद्धिमान् मनुष्य कुल अथवा गोत्र का मद करेगा ?

निग्रंथ संघ में प्रवेश के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, यहाँ तक कि अंत्यजों (जुगुप्सित कुलों) के लिए भी द्वार खुले थे। निग्रन्थों में हरिकेशबल नामक अनगार थे जो चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे। उनकी चमड़ी का रंग काला और नाक चपटी थी। तप से उनका शरीर कृश हो गया था। एक बार वह भिक्षाचर्या करते हुए एक यज्ञशाला में पहुँच गये जहाँ जातिमद में चूर बहुत से ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे। इन ब्राह्मणों ने उनसे यज्ञमंडप से निकल जाने को कहा। हरिकेशबल ने जब समझाने का प्रयत्न किया कि मैं श्रमण, संयती, ब्रह्मचारी हूँ तो उन्होंने आश्रम में विद्याध्ययन करनेवाले क्षत्रिय कुमारों को आदेश दिया कि इस भिक्षु की डंडों और घूँसों से मरम्मत करके इसे गर्दन पकड़ कर निकाल दो। आचार्य का आदेश पाते ही बहुत-से छात्र दौड़ पड़े और अनगार हरिकेशबल को डंडे, बेंत और चाबुक से मारने लगे।

किन्तु अनगार हरिकेशबल ने उनके इस अनार्यपने के आचरण पर किसी प्रकार का क्रोध, आक्रोश या द्वेष नहीं प्रकट किया और उन सबको क्षमा करते हुए समझाया कि सच्चा यज्ञ कैसे सम्पन्न हो सकता है। उसके लिए प्राणियों की हिंसा नहीं करनी पड़ती। वह यज्ञ भाव-रूप होता है। उस यज्ञ में तप ही अग्नि होती है, चैतन्य आत्मा अग्नि कुण्ड, मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्तियाँ घी डालने की करछियाँ, शरीर अग्नि जलाने का कंडा, कर्मबन्ध लकड़ियाँ और संयम शान्तिपाठ होता है।[2]

निगंठ ज्ञातपुत्त की धर्मप्रज्ञप्ति किसी प्रकार के संकीर्ण सम्प्रदायवाद से सर्वथा विमुक्त थी। वह यह नहीं मानते थे कि सिद्धि केवल विशेष साधुवेश धारण करनेवालों को ही प्राप्त होती है। यदि कोई सम्यक्दृष्टि, सम्यक् ज्ञान,

---

१. उत्तराध्ययन-सूत्र २५।१-१२५।

२. वही, पृ० १२।१-४७।

तथा सम्यक् चारित्र्य से युक्त है तो उसने चाहे जो साधु-वेश या साधना-पद्धति अपनायी हो उसे सिद्धि प्राप्त हो जायगी। निग्रंथ संघ में अन्य लिंगसिद्ध भी स्वीकार किये जाते थे और ऐसे सिद्धों में असित देवल, द्वैपायन, पराशर, निमि विदेह, राम गुप्त, बाहुक तथा नारायण[1] जैसे वैदिक तथा उत्तर वैदिक ऋषियों के नाम गिनाये जाते थे।

काम्पिल्यपुर के अम्बड़ परिव्राजक ने यद्यपि अपना परिव्राजक वेश नहीं त्यागा था तथापि निग्रंथ संघ में उसे श्रावकव्रती कहा जाता था। क्योंकि वह निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा प्ररूपित श्रावकव्रतों का अपने ढंग से पालन करता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण तथा निघंटु का ज्ञाता था और अपने सात सौ शिष्यों को पढ़ाता था। वह कापिल शास्त्र (सांख्य), गणितशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, कल्प, व्याकरण, छन्दशास्त्र, निरुक्त तथा ज्योतिष-शास्त्र में भी पारंगत था।

वह दानधर्म, शौचधर्म तथा तीर्थाभिषेक में विश्वास करता था तथा निष्प्र-योजन हिंसा का विरोधी था। शकट, शिविका, घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसे या गधे पर चढ़कर यात्रा नहीं करता था। लोहे, ताँबे, जस्ते, सीसे, चाँदी अथवा सोने के बहुमूल्य पात्र नहीं स्वीकार करता था। केवल तुम्बे, काठ या मिट्टी के पात्र का उपयोग करता था। रंग-बिरंगे कपड़े त्याग कर केवल गैरिक वस्त्र धारण करता था। आभूषणों के नाम पर हाथ में ताँबे की मुद्रिका तथा कानों में कर्णपूर पहनता था। शरीर पर अगर, लोध्र, चंदन, कुंकुम इत्यादि सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन करने के बजाय केवल गंगा किनारे की मिट्टी का लेपन करता था। केवल बहती हुई नदी का छना पानी पीने के उपयोग में लाता था, सो भी दाता का दिया हुआ।

निगंठ ज्ञातपुत्त ग्रामानुग्राम विहार करते हुए काम्पिल्यपुर पहुँचे तो वह भी अपने शिष्य परिवार के सहित उनका प्रवचन सुनने आया। गौतम गणधर के प्रश्न करने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने उसके स्फटिक मणि के समान निर्मल चरित्र तथा अध्यवसाय की भारी प्रशंसा की।[2]

निग्रंथ संघ में गुण-पूजा पर बल दिया जाता था व्यक्ति-पूजा पर नहीं। शायद यही कारण था कि निग्रंथ संघ आर्य क्षेत्र के लोगों को ही नहीं अनार्य क्षेत्र के लोगों को भी आकर्षित कर सका। उस काल में समुद्र के मध्य में आर्द्रक नामक

---

१. सूत्रकृतांग ३।४।१-७।
२. भगवतीसूत्र शतक १४, उद्देश ८ तथा औपपातिक सूत्र ३९-४७।

एक अनार्य देश था। मगध के साथ उसका दौत्य सम्बंध था। एक बार मगधराज श्रेणिक ने उस देश के राजा के पास उपहार भेजा। राजा का पुत्र आर्द्रककुमार पिता के पास ही बैठा था। उसने सोचा, मगध का महाप्रतापी राजा मेरे पिता का मित्र है। मुझे भी उसके पुत्र से मित्रता स्थापित करनी चाहिए। उसने दूत से राजा के पुत्रों के विषय में पूछा। दूत ने बताया कि राजा श्रेणिक के एक से एक महाबली पुत्र हैं। अभयकुमार उनमें सबसे ज्येष्ठ और गुणी है, इसीलिए राजा ने उसे अपना अमात्य नियुक्त कर रखा है। आर्द्रककुमार ने अभयकुमार से मित्रता जोड़ने के लिए उपहार भेजा, इसके बाद उससे स्वयं मिलने के लिए मगध की ओर चल पड़ा। राजगृह पहुँचने पर आर्द्रककुमार निगंठ ज्ञातपुत्त के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गया।[1]

उस काल में उत्तरी बंगाल में कोटिवर्ष नामक नगर था जिस पर किरात राजा राज्य करता था। इस क्षेत्र में हीरे की खान थी, जिसके कारण आर्य क्षेत्र के व्यापारी प्रायः कोटिवर्ष की यात्रा करते रहते थे। निगंठ ज्ञातपुत्त का एक श्रावक जिनदेव साकेत में रहता था जो रत्नों का व्यापार करता था। एक बार वह रत्नों की खरीदारी के लिए कोटिवर्ष गया। उसने किरात राजा को अनेक बहुमूल्य रत्न भेंट किये। राजा ने आश्चर्य से पूछा, क्या तुम्हारे देश में इतने बहुमूल्य रत्न उत्पन्न होते हैं? जिनदेव ने आमंत्रण दिया : हमारे देश में आइए, इनसे भी बहुमूल्य रत्न दिखाऊँगा।

किरात राजा साकेत पहुँचा। उसने देखा, नागरिकों की विशाल भीड़ एक ही दिशा में चली जा रही है। उसने वणिक जिनदेव से पूछा : इतने लोग कहाँ जा रहे हैं? जिनदेव ने उत्तर दिया; हमारे देश में रत्नों का एक व्यापारी आया है। सब लोग उसी का दर्शन करने जा रहे हैं। किरात राजा ने भी उसके दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। जिनदेव उसे साकेत नगर के बाहर उत्तरकुरु उद्यान में ले गया जहाँ निगंठ ज्ञातपुत्त समवसृत थे। किरात राजा ने उनकी वन्दना करके कहा : देवानुप्रिय! आपके पास जो सबसे बहुमूल्य रत्न हो, मुझे दिखाइए। निगंठ ज्ञातपुत्त ने उत्तर दिया : मेरे पास द्रव्यरत्न नहीं भावरत्न हैं। जितने लेना चाहो ले सकते हो। निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने प्रवचन में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र रूपी भावरत्नों की इतनी सुन्दर व्याख्या की कि किरात राजा के अन्तर नेत्र खुल गये और उसने उनके निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[2]

१, सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, छठा अध्ययन।

२. आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृ० २०३-२०४।

इसी प्रकार उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञातृ, कौरव आदि कुलों के कितने ही क्षत्रिय, भट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्ठी, सार्थवाह, कुटुम्बपति तथा गृहपति उनके संघ में सम्मिलित हो गये। उनके संघ ने अपने युग में एक चलते-फिरते विश्वविद्यालय की भूमिका अदा की। उसने जन-जन में क्रोध और लोभ से दूर रहने, भयरहित बनने, असत्य भाषण, आसक्ति तथा संग्रह वृत्ति त्यागने, चोरी न करने, ब्रह्मचर्य पालने, दूसरों को परिताप न पहुँचाने, किसी का बुरा न चीतने तथा प्राणी-वध न करने का प्रचार किया।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने जिस समय अपने श्रमण संघ का संगठन किया, पुरुषादानीय पार्श्वनाथ का संघ विशृंखलित हो चुका था। पुरुषादानीय पार्श्वनाथ और निगंठ ज्ञातपुत्त की धर्मविज्ञप्ति में तात्त्विक अन्तर न था। पार्श्वनाथ के बहुत-से श्रमणोपासक राजगृह के निकट तुंगिया नगरी में रहते थे। एक बार पार्श्वापत्य स्थविर कालियपुत्र, मेहिल, आनन्दरक्षित तथा काश्यप तुंगिया पधारे और बहुत से श्रमणोपासक उनकी वन्दना करने पहुँचे। उस समय जो तत्त्वचर्चा चली उसे सुनकर गौतम गणधर ने निगंठ ज्ञातपुत्त से जिज्ञासा की कि पार्श्वापत्य स्थविर तप, संयम, कर्मबंधन-नाश की जो परिभाषा करते हैं वह क्या सत्य है? वे स्थविर क्या इन प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता रखते हैं? निगंठ ज्ञातपुत्त ने स्वीकार किया कि पार्श्वापत्य स्थविर सही ढंग से तपस्या करनेवाले हैं और विशेष ज्ञानी हैं। तप, संयम आदि का जो फल वे बताते हैं वही मैं भी बताता हूँ। मैं उनके मत से सहमत हूँ।[1]

इसके बावजूद पार्श्वापत्य स्थविर प्रारम्भ में श्रमण ज्ञातपुत्त को अपने यूथ (दल) का नहीं मानते थे, क्योंकि उन्होंने स्वतन्त्र रीति से साधना की थी, किसी का शिष्य बनकर नहीं। उन्होंने सत्य का साक्षात्कार स्वयं ही किया था, किसी से अनुश्रवण करके नहीं। वह सत्य के जिस रूप का प्ररूपण करते थे उसे उन्होंने स्वयं देखा और जाना था। उनका साधु-वेश भी उनका निज का था, वह किसी के अनुगामी नहीं थे। इसीलिए पार्श्वापत्य स्थविर निगंठ ज्ञातपुत्त को स्वगृहीत लिंगी[2] कहते थे। संभवतः पार्श्वापत्य श्रमणों और निगंठ ज्ञातपुत्त के श्रमणों में भेद करने के लिए ही प्रारम्भ में निगंठ ज्ञातपुत्त के अनगार शिष्य वैशालिक श्रावक के नाम से सम्बोधित किये जाते थे।[3] अर्हत पार्श्व ने अनगारों के लिए केवल चार व्रत प्ररूपित किये थे : प्राणीहिंसा-त्याग, मृषावाद-त्याग, अदत्त वस्तु

---

१. भगवतीसूत्र, शतक २, उद्देश ५।
२. तीर्थंकर महावीर, भाग १, पृ० १९७। ३. वही, भाग २, पृ० ८० (पाद टिप्पणी)।

का त्याग तथा परिग्रह-त्याग और इसी आधार पर उनका धर्म चातुर्याम धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थप्रवर्तन काल में बहुत-से पार्श्वापत्य श्रमण ब्रह्मचर्य पालन में शिथिलता बरतने लगे थे और गृहस्थों की तरह आचरण करने लगे थे। इसीलिए निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने अनगार शिष्यों के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का प्ररूपण पृथक् रूप से किया। उनके अनगार स्त्री को भी परिग्रह मानकर परिग्रह-त्याग में स्त्री-त्याग को सम्मिलित समझें इसके बजाय उन्होंने स्पष्ट रूप से सर्वमैथुन-त्याग व्रत का निरूपण किया और अर्हत पार्श्व के चार व्रतों के स्थान पर पाँच महाव्रतों का विधान किया।

निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थ-प्रवर्तन के बाद बहुत-से पार्श्वापत्य श्रमण उनकी धर्म-प्रज्ञप्ति की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने उनके निकट नये सिरे से प्रव्रज्या ग्रहण करके उनके संघ के अनुशासन से अपने को बद्ध किया। एक समय निगंठ ज्ञातपुत्त जब राजगृह में समवसृत थे; बहुत-से पार्श्वापत्य स्थविर उनकी वन्दना करने पहुँचे और उनसे लोक के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये। निगंठ ज्ञातपुत्त ने पुरुषादानीय पार्श्व के मत का उल्लेख करते हुए उन्हीं के समान लोक को शाश्वत, अनादि और अनन्त बताया। निगंठ ज्ञातपुत्त ने जिस रीति से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान कर दिया, उसके फलस्वरूप उन्होंने उनका सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होना स्वीकार कर लिया और उनके निकट चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत अंगीकार कर लिये।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त के निग्रंथ संघ ने अनेकानेक पार्श्वापत्य स्थविरों को ही नहीं, अन्यतीर्थिक परिव्राजकों को भी आकर्षित किया। इन परिव्राजक तापसों में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों थे। वाराणसी से बारह योजन दूर आलमिया नगरी के शंख उद्यान के निकट चारों वेद तथा अन्य ब्राह्मण शास्त्रों में निष्णात पुद्गल परिव्राजक रहता था। निरंतर हाथ ऊँचा करके और सूर्य के सम्मुख दृष्टि करके उसकी आतापना लेते हुए उसे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हो गया। वह आतापना-भूमि से नीचे उतर कर त्रिदंड, कुंडिका और भगवा वस्त्र धारण करके आलमिया नगरी में तापसों के आश्रम में पहुँचा, और अपने विशिष्ट ज्ञान-दर्शन लब्ध होने की घोषणा की। इसके बाद वह अपने मत का चारों ओर प्रचार करने लगा। एक समय निगंठ ज्ञातपुत्त जब अपने ग्रामानुग्राम विहार के अनुक्रम में आलमिया पहुँचे तो वह उनसे मिलने गया। निगंठ ज्ञातपुत्त से तत्त्व-

---

१. भगवतीसूत्र शतक ११, उद्देश ९।

चर्चा होने पर उसे अनुभव हुआ कि उसका विशिष्ट ज्ञान-दर्शन मिथ्या है और वह उनका अंतेवासी बन गया।[1]

श्रावस्ती नगरी में पिंगल नामक एक वैशालिक श्रावक रहता था। वह निगंठ ज्ञातपुत्त के वचनामृत का रसिक था। एक बार वह निकटवर्ती कृतंगला नगरी की ओर निकल गया जहाँ कात्यायन गोत्रीय गर्दमाल परिव्राजक का शिष्य स्कंदक परिव्राजक रहता था। वह गौतम गणधर का पूर्व परिचित था और अपने विशाल शिष्य परिवार को वेदादि ग्रंथ पढ़ाता था। यदि कोई शिष्य पाठ भूलता था तो वह उसे उसका स्मरण करा देता था। यदि कोई शिष्य अशुद्ध मन्त्र का उच्चारण करता था तो वह उसे रोक देता था। वह वेदों के अर्थ को अच्छी तरह धारण करने वाला और सकल ब्राह्मण ग्रंथों में पारंगत था। फिर भी वैशालिक श्रावक पिंगल ने जब उससे लोक की रचना सम्बन्धी कुछ तात्त्विक प्रश्न किये तो वह उनका उत्तर नहीं दे सका। निगंठ ज्ञातपुत्त के श्रावस्ती पधारने पर वह उनकी वन्दना करने पहुँचा और उनसे उन प्रश्नों का उत्तर पाकर उसे उनके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का विश्वास हो गया। फलतः वह उनके संघ में सम्मिलित हो गया।[2]

इस रीति से निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपनी ग्रामानुग्राम पदयात्रा में न जाने कितने मुमुक्षुओं को साधना के पथ पर अपना सहयात्री बना लिया। उनके संघ का प्रभावक्षेत्र चारों दिशाओं-विदिशाओं में उत्तरोत्तर विस्तृत होता गया। उनके प्रवचनों से प्रभावित होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी वर्णों एवं उच्च, मध्यम तथा निम्न सभी कुलों के लोग आ-आकर अधिकाधिक संख्या में उसमें सम्मिलित होने लगे। इनमें आठ तो मुकुटधर राजा थे, जिनके नाम **स्थानांगसूत्र** में निम्न प्रकार से मिलते हैं।

सिंधु-सौवीर का राजा उद्रायण, हस्तिनापुर का राजा शिव, आमलकप्पा नगरी का राजा सेय, काम्पिल्यपुर का राजा संजय, मथुरा का राजा शंख काशी-वर्धन, वीरांगक, वीरयश तथा ऐणेयक।

इनमें से अन्तिम तीन राजाओं का कोई विवरण नहीं मिलता। सिंधु-सौवीर के राजा उद्रायण को तापसों के उपासक से निग्रंथों का उपासक बनाने का श्रेय सम्भवतः उसकी भार्या तथा गणराजा चेटक की पुत्री प्रभावती को था जो

---

१. वही, शतक ११, उद्देश १२।
२. वही, शतक २, उद्देश १।

श्रमणोपासिका थी। कहते हैं, प्रभावती के पास निगंठ ज्ञातपुत्त की गोशीर्षचन्दन की एक प्रतिमा थी।[1] यह प्रतिमा उस काल की थी जब निगंठ ज्ञातपुत्त ने प्रव्रज्या लेने से दो वर्ष पूर्व गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपना समस्त आचरण श्रमणों के सदृश बना लिया था।

शिव राजर्षि भी पहले तापसों का भक्त था और सांसारिक काम भोगों से वैराग्य उत्पन्न होने पर एक दिन राजधानी हस्तिनापुर के बाहर गंगा के तट पर रहने वाले वल्कलधारी दिशाप्रोक्षक तापसों के आश्रम में जाकर उसने उनसे प्रव्रज्या ले ली। वह क्रम-क्रम से पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण दिशा के लोकपालों की अनुमति लेकर उस दिशा के कंद-मूल, फल-फूल, बीज और हरित वनस्पतियाँ अपनी कावड़ में भरकर उन्हीं से उदरपोषण करता था। बाद में वह भी निगंठ ज्ञातपुत्त का अन्तेवासी बन गया।[2]

सेय राजर्षि निगंठ ज्ञातपुत्त के आमलकप्पा नगरी पधारने पर अपनी रानी धारिणी सहित उनकी वन्दना करने पहुँचा और उनका अन्तेवासी बन गया।[3] गौतम गोत्र में उत्पन्न काम्पिल्यपुर का राजा संजय एक बार नगर से बाहर स्थित केसर उद्यान में मृगया खेलने गया। वहाँ एक लतामंडप के भीतर एक अनगार श्रमण तपस्यारत था। संजय राजा ने उस अनगार श्रमण के समीप निर्भय होकर घूमने वाले मृगों को भी मार-मार कर उनका ढेर लगा दिया। जब उसकी दृष्टि तपस्यारत अनगार पर पड़ी तो उसे अपने कृत्य पर भारी खेद हुआ। उस अनगार श्रमण के उपदेश से उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[4] मथुरा का राजा शंख काशीवर्धन निग्रंथ संघ में सम्मिलित होने के बाद बहुश्रुत श्रमण के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

निग्रंथ संघ में सम्मिलित कितने ही श्रमण अपने गृहस्थ जीवन में राजाओं से भी अधिक ऐश्वर्य रखते थे। राजगृह की भद्रा सेठानी के पुत्र शालिभद्र के पास राजा श्रेणिक से भी अधिक धन था। वह पुष्पमालाओं की भाँति एक बार धारण किये गये बहुमूल्य रत्नजटित आभूषणों को दूसरी बार नहीं पहनता था। उन्हें गृहवापिका में फेंक दिया जाता था। एक बार रत्नकम्बलों का एक व्यापारी राजगृह पहुँचा। श्रेणिक ने रत्नकम्बलों का मूल्य अधिक होने के कारण उन्हें

---

१. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ५१०-११।

२. भगवतीसूत्र, शतक ११, उद्देश ९।

३. राजप्रश्नीय (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २)।

४. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८।

खरीदने से इन्कार कर दिया, किन्तु भद्रा सेठानी ने उन रत्नकम्बलों को मुँह-माँगे दाम पर खरीद कर अपनी पुत्रवधुओं को दे दिया, जिन्होंने उससे पैर-पोंछने वना लिये ।

श्रेणिक शालिभद्र के ऐश्वर्य को अपनी आँखों से देखने की अभिलाषा से उसके घर गया । इस अवसर पर भद्रा सेठानी ने सारे राजमार्ग को तथा अपने सतखंडे भवन को भव्य रीति से सजाया । श्रेणिक भद्रा सेठानी का अमित वैभव देखकर चकित रह गया । उसे यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि मेरी राजधानी में मुझसे भी कहीं अधिक घनी श्रेष्ठी रहते हैं ।

लक्ष्मी की असीम कृपा होने के कारण शालिभद्र श्रेष्ठी ने अपने चारों ओर एक स्वप्नलोक का निर्माण कर रखा था, जिसका एकछत्र स्वामी वह अपने को समझता था । वह अपने आकाशचुम्बी भवन की सातवीं मंजिल पर सपनों की दुनियाँ में सदा डूवा रहता था । भद्रा माता ने जव कहलाया कि श्रेणिक आया है, नीचे आओ, तो उसने समझा कि शायद कोई व्यापारी आया है, माँ कुछ खरीदना चाहती हैं । उसने कहला दिया : माँ जो योग्य मूल्य समझो, देकर खरीद लो । मेरे आने की क्या आवश्यकता है । भद्रा माता को अपने पुत्र के भोलेपन पर हँसी आयी कि वह राजा श्रेणिक को भी खरीदने की वस्तु समझता है । उसने कहलाया : श्रेणिक खरीदने की वस्तु नहीं है । वह तुम्हारा स्वामी है ।

शालिभद्र श्रेष्ठी का स्वप्नलोक भंग हुआ । अभी तक वह अपने को ही सब का स्वामी समझता था, किन्तु उसे अनुभव हुआ कि मुझसे ऊपर भी मेरा कोई स्वामी है । फलतः उसने उस स्वामी का सेवक वनने का निश्चय किया जिसके आगे राजा श्रेणिक जैसे प्रतापी नरेन्द्र भी मस्तक झुकाते थे । इसकी तैयारी में वह प्रति दिन अपनी वत्तीस पत्नियों में से एक-एक पत्नी और शय्या का त्याग करने लगा ।

शालिभद्र की छोटी बहिन सुभद्रा ने जव सुना तो उसकी आँखों में आँसू छलछला आये । वह अपने पति धन्य श्रेष्ठी का सिर सुगन्धित जल से धोने के वाद उसके वालों में कंघा कर रही थी । दोनों कंधों पर पत्नी के गर्म आँसुओं की बूँदें टपकने पर धन्य श्रेष्ठी ने सिर उठाकर देखा और पत्नी के रोने का कारण पूछा । सुभद्रा ने श्रमण भगवान महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर प्रव्रज्या लेने की तैयारी में अपने इकलौते भाई द्वारा एक-एक पत्नी का त्याग करने की सारी कथा सुनायी । पति ने व्यंग्यपूर्वक कहा : तुम्हारा भाई कायर

प्रतीत होता है। जब घर छोड़ना तय कर लिया है तब उसमें विलम्ब करने की क्या आवश्यकता ? पत्नी ने तुनक कर कहा : कहना जितना सरल होता है, करना उतना सरल नहीं होता। धन्य श्रेष्ठी ने उसी समय अपनी अपार सम्पत्ति त्याग कर प्रव्रज्या ले ली।

निग्रन्थ संघ में अनगार शालिभद्र और धन्य, दोनों ही बहुश्रुत और महा-तपस्वी माने जाते थे। एक बार भद्रा सेठानी राजा श्रेणिक और राजकुमार अभयकुमार के साथ वैभारगिरि पर तपस्यारत अपने पुत्र शालिभद्र मुनि तथा जामाता धन्य मुनि को देखने गयी तो दोनों के शरीर में हड्डियाँ ही हड्डियाँ देख दहाड़ मारकर रोने लगी।[1]

निग्रन्थ संघ में शालिभद्र तथा धन्य मुनि की भाँति दुष्कर तपस्या करनेवाले अनेकानेक अनगार थे। निगंठ ज्ञातपुत्त अपने संघ के चौदह हजार श्रमणों में काकन्दी नगरी के धन्य अनगार को सबसे अधिक दुष्कर तपःकर्म करनेवाला मानते थे। निरन्तर दो-दो दिन का अनशन-तप करने के कारण उनके पाद, जंघा और ऊरु सूखकर रूक्ष हो गये थे, पेट पिचककर कमर से लग गया था और दोनों कूल्हे कढ़ाई के समान दिखाई पड़ते थे। उनकी एक-एक पसली गिनी जा सकती थी। कमर की हड्डियाँ अक्षमाला की भाँति तथा वक्ष की हड्डियाँ गंगा की लहरों की भाँति अलग-अलग दिखाई पड़ती थीं। भुजाएँ सूखे हुए सर्प की भाँति कृश हो गयी थीं जिसके कारण हथेलियाँ घोड़े के मुँह पर बँधे तोवड़े की भाँति प्रतीत होती थीं। सिर वातरोगी के समान काँपने लगा था, मुँह मुरझाये हुए कमल के समान म्लान पड़ गया था और आँखें जैसे गड्ढे में धँस गयी थीं। पुद्गल शरीर इतना क्षीण हो गया था कि बोलने में मूर्छा आ जाती थी, फिर भी आत्मतेज इतना प्रबल था कि उनकी ओर देखने पर ऐसा भासित होता था जैसे राख में ढँकी अग्नि हो।

धन्य अनगार के पिता काकन्दी नगर के सबसे धनी सार्थवाह थे। वे अपने माता-पिता के इकलौते पुत्र थे, वैभव की गोद में पले। युवा होने पर माता भद्रा सार्थवाही ने बत्तीस रूपसी कन्याओं से उनका विवाह कर दिया और प्रत्येक पत्नी के लिए अलग-अलग भवन बनवा दिये। परन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त के प्रवचन का प्रभाव ऐसा पड़ा कि चित्त सांसारिक कामभोगों से विरक्त हो

---

१. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ६१४-६१५।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग १०।

गया। काकन्दी के राजा ने पहले तो उन्हें प्रव्रज्या न लेने के लिए बहुत समझाया, किन्तु जब देखा कि अब उनको अपने प्रण से डिगाना सम्भव नहीं है तो उनके अभिनिष्क्रमण-उत्सव का स्वयं नेतृत्व किया और घोषणा कर दी कि जो लोग धन्य सार्थवाह की भाँति दीक्षा लेना चाहते हों, प्रसन्नतापूर्वक ले लें। उनके कुटुम्ब के भरण-पोषण की व्यवस्था राज्य की ओर से की जायगी।[1]

निग्रन्थ संघ में एक तपोधन अनगार अनाथी मुनि के नाम से विख्यात थे। गृहस्थ जीवन में उनके पास भी प्रभूत धन था। उनका जन्म कौशाम्बी नगरी के एक सम्पन्न कुल में हुआ था। राजा श्रेणिक से उनका जो रोचक वार्तालाप हुआ, उसी के बाद संघ में उनको अनाथी मुनि सम्बोधित किया जाने लगा था। राजगृह नगर के बाहर एक अत्यन्त रमणीक वनखण्ड था जिसमें मंडिकुक्षि चैत्य स्थित था। एक बार वह उसी वनखण्ड में तपस्यारत थे। राजा श्रेणिक भी क्रीड़ा के लिए अपने अन्तःपुर, परिजनों तथा बान्धवों सहित उसी वनखण्ड में पहुँचा। वृक्ष के नीचे एक अनगार श्रमण को ध्यानरत देखकर वह ठिठक गया।

दोनों नेत्र बन्द कमलदल की भाँति ईषत् मुँदे हुए, जैसे वे बाहर की दुनिया को देखकर भी न देख रहे हों और अन्तर की दुनिया को ही देखने में तल्लीन हों। उस श्रमण की सौम्य, क्षमाशील मुद्रा ने श्रेणिक को अभिभूत कर लिया। श्रथण अभी तरुण वय का था, रूप-सम्पदा भी कम नहीं पायी थी। उसकी अवस्था अभी मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों का भोग करने की थी, परन्तु आश्चर्य! उसने इतनी थोड़ी अवस्था में ही अपने को संसार से विरक्त कर लिया था।

श्रेणिक ने उसकी वन्दना करके जिज्ञासा की : भंते, भोग-विलास में बिताने योग्य इस तरुण अवस्था में आप अनगार क्यों बन गये?

श्रमण ने उत्तर दिया : महाराज, मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ नहीं है। मेरे ऊपर अनुकम्पा करनेवाला मेरा कोई कुटुम्बी, स्वजन, सम्बन्धी, ज्ञातिजन या मित्र नहीं है।

यह श्रमण अनाथ है! श्रेणिक को उस पर बड़ी दया आयी। हँसकर बोला : भंते! यदि आपका कोई नाथ नहीं है तो आज से मैं आपका नाथ होता हूँ। आप मित्रों और ज्ञातिजनों के सहित सांसारिक सुखों का भोग करें। यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है।

---

१. ठाणांग सूत्र, तृतीय वर्ग।

श्रमण ने उत्तर दिया : मगधराज ! आप स्वयं अनाथ हैं। अनाथ होते हुए आप दूसरों के नाथ कैसे बन सकेंगे।

श्रेणिक अत्यन्त विस्मित हुआ—मगधराज और अनाथ ! इतनी विपुल सेना, इतने हाथी घोड़े, दास, दासी, इतना विशाल कोष, कोष्ठागार तथा अन्तःपुर, इतने नगरों और सामन्त राजाओं का स्वामी भला अनाथ कैसे ? उसने कहा : भंते ! मेरा ऐश्वर्य अतुल है। मैं मनुष्य सम्बन्धी सभी कामभोगों का भोग करता हूँ। मेरी आज्ञा चारों दिशाओं में चलती है। मैं अनाथ कैसे कहला सकता हूँ।

श्रमण ने श्रेणिक को समझाया कि जीव सर्वथा अनाथ होता है। दुःख में कोई उसका शरणभूत नहीं होता। उसने अपनी जीवन-कथा सुनायी—एक बार मेरी आँखों में असह्य वेदना उत्पन्न हुई। कमर, हृदय तथा मस्तक में इतनी दुस्सह पीड़ा होने लगी कि लगता था कोई क्रुद्ध शत्रु मर्मस्थलों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र चुभा रहा है। पिता ने चिकित्सा शास्त्र में कुशल एक नामी वैद्य से दवा करायी, उन्हें प्रभूत धन दिया, फिर भी वे उस महावेदना से मुक्ति नहीं दिला सके। माता ने अनेक उपाय किये, किन्तु वह भी पुत्र का कष्ट नहीं हर सकी। भाइयों और बहिनों ने भी पूरा प्रयत्न किया, किन्तु वे भी पीड़ा का कोई उपचार नहीं कर सके। पत्नी ने अन्न-जल, माला, विलेपन, सभी कुछ त्याग दिया, दिन-रात पास में बैठी रहकर उसके वक्षस्थल को अपने आँसुओं से भिगोया करती थी, किन्तु वह भी पति का दुःख दूर न कर सकी।[1]

अनाथी मुनि की जीवन-कथा सुनकर राजा श्रेणिक को जैसे नयी दृष्टि मिली। उसने अनुभव किया कि जीव सचमुच कितना अनाथ होता है और एक मात्र धर्म ही उसे दुःखों से त्राण दिलाने में समर्थ होता है। तभी से निग्रन्थ श्रमणों के प्रति उसके हृदय में गहरी श्रद्धा पैठ गयी।

निग्रन्थ संघ में अर्जुन माली जैसे अनगार भी थे जिनको देखते ही राजगृह के नागरिक मुँह फेर लेते थे। घर-घर से आवाजें आती थीं : अरे, इसने मेरे पिता को मारा है, मेरे पति को, भाई को, मेरी पत्नी को, मेरी बहिन को मारा है। अर्जुन मुनि नागरिकों के सभी कटु वचनों को अनाकुल, अम्लान भाव से सहन करते थे और सबके प्रति क्षमाभाव ग्रहण करते थे। अन्तर में अनुभव करते थे कि यह सब उनके कृत की ही प्रतिक्रिया है। कभी उन्हें भिक्षा मिलती थी और कभी नहीं मिलती थी। दोनों स्थितियों में उनका माध्यस्थ भाव बना

१. उत्तराध्ययन सूत्र २०।१-६०।

रहता था। निग्रन्थी दीक्षा लेने के वाद वह अपने पाप-कर्मों की निर्जरा के लिए उग्र तपस्वी बन गये थे।

अर्जुन अनगार ने अपने गृहस्थ जीवन में दुःख का लवालव भरा प्याला पिया था। भद्रवर्गीय समाज के अनाचार-अत्याचार तथा उत्पीड़न ने उनका चित्त विक्षिप्त बना दिया था। राजगृह नगर के वाहर उनके प्रपितामह के समय का एक पुष्पाराम था, जिसमें पाँचों वर्णों के फूल खिलते थे। पूर्व जीवन में वह इन्हीं फूलों को राजगृह के राजमार्गों पर बेचा करते थे। उनका गृहस्थ जीवन बड़ा सुखी था। उनकी रूपवती भार्या नित्यप्रति उनके साथ पुष्पाराम में फूल चुनने जाती थी।

पुष्पाराम के समीप ही उनके प्रपितामह के समय का एक यक्षायतन था। उसमें स्थापित यक्ष-मूर्ति के हाथ में एक हजार पल भारवाला लोहे का मुग्दर था, जिसके कारण उसे मुग्दरपाणि यक्षायतन कहा जाता था। वह कुल-परम्परा के अनुसार वाल्यकाल से उस मुग्दरपाणि यक्ष को अपना रक्षक देवता मानते थे और नित्य उसके चरणों में पुष्प चढ़ाते थे।

राजगृह में ललिता नामक एक गोष्ठी थी, जिसके सदस्य अत्यन्त ऋद्धि-सम्पन्न होने से राजा श्रेणिक के कृपापात्र थे। इस गोष्ठी के सदस्य गोष्ठिक कहलाते थे। एक बार नगर में प्रमोद उत्सव की घोषणा हुई। आज तो बहुत फूल विकेंगे, यह सोचकर अर्जुन माली फूले न समाये, उस दिन वहुत तड़के अपनी भार्या वन्धुमती के साथ फूल चुनने के लिए पुष्पाराम में गये। वहाँ छह गोष्ठिक मुग्दरपाणि यक्षायतन में एकत्र होकर मौज-मजा मना रहे थे। अर्जुन माली की रूपवती भार्या वन्धुमती को देखकर उनके मन में कामविकार जागृत हो गया। जब माली दम्पति फूल चढ़ाने के लिए यक्षायतन में आये तो वे साँस रोककर किवाड़ों के पीछे छिप गये। जैसे ही माली दम्पति यक्षमूर्ति पर फूल चढ़ाकर उसे प्रणाम करने के लिए झुके, वे किवाड़ों के पीछे से निकल आये और माली को औंधा करके उसकी मुश्कें वाँध दीं। इसके वाद उन्होंने मुग्दर-पाणि यक्षमूर्ति के सामने ही उसकी रूपवती भार्या के साथ भोग किया।

इस अनाचार से अर्जुन माली का चित्त विक्षिप्त हो गया। उन्हें समूची राजगृह नगरी उत्पीडक नजर आने लगी। आवेश में आकर उन्होंने यक्षमूर्ति के हाथ से हजार पलवाला मुग्दर उठा लिया और उससे उन छहों गोष्ठिकों और वन्धुमती की हत्या कर डाली। इस घटना से राजगृह के नागरिकों में आतंक छा

गया । चारों ओर यह अफवाह फैल गयी कि नगर के बाहर राजमार्ग पर एक यक्ष कुपित होकर हाथ में लोहे का मुग्दर लिये घूम रहा है और प्रति दिन छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या कर डालता है । नागरिकों ने उस राजमार्ग पर जाना छोड़ दिया । इसी बीच निगंठ ज्ञातपुत्त का राजगृह के गुणशील चैत्य में आगमन हुआ । मुग्दरपाणि यक्ष के भय से किसी नागरिक को गुणशील चैत्य की ओर जाने का साहस नहीं हुआ । किन्तु सुदर्शन नामक एक श्रमणोपासक भय त्यागकर उनकी वन्दना के लिए निकल पड़ा । मार्ग में उसे हजार पलवाला लोहमय मुग्दर घुमाता हुआ अर्जुन माली मिला, परन्तु वह तनिक भी भयभीत नहीं हुआ, अन्त में अभय ने भय पर विजय प्राप्त की। अर्जुन माली का आवेश शान्त हुआ और सुदर्शन श्रमणोपासक के साथ निगंठ ज्ञातपुत्त का दर्शन करने पर उनके जीवन की धारा बदल गयी । उनकी चेतना का प्रवाह अब ऊर्ध्वमुखी हो गया था ।[1]

निर्ग्रंथ संघ में अर्जुन माली की भाँति जीवन में प्रचुर दुःख भोग कर संसार से विरक्त हो जानेवाले अनेकानेक अनगार थे । संघ में कपिल केवली के नाम से विख्यात एक अनगार थे । उनके पिता कौशाम्बी की राजसभा में राजपंडित थे । सिर पर छत्र धारण करके चलते थे । किन्तु सांसारिक सुख पानी के बुलबुले की भाँति कितने क्षणिक होते हैं, इसकी अनुभूति उन्हें बाल्यकाल में ही हो गयी । अचानक पिता की मृत्यु हो गयी । परिवार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा । माँ चर्खे पर सूत कातकर पेट पालने के लिए विवश हो गयीं । स्वर्गीय पिता के एक मित्र श्रावस्ती में आचार्य थे । माँ ने विद्याध्ययन के लिए उनके पास भेज दिया । उन्होंने भोजन की व्यवस्था एक गृहपति के यहाँ कर दी । उस गृहपति के यहाँ एक दासी थी। उस दासी से उनका प्रेम हो गया । दासी को गर्भ रह गया । अब वह उनसे भरण-पोषण की माँग करने लगी । दासी ने एक श्रेष्ठी का नाम बताया और कहा कि वह प्रति दिन दान देता है । तुम उसके पास जाओ, जितना द्रव्य माँगोगे वह दे देगा । धन के लोभ में वे रात बीतने से पहले ही घर से निकल पड़े और उस श्रेष्ठी की दानशाला की ओर चल पड़े । मार्ग में नगररक्षकों ने चोर समझ कर पकड़ लिया । न्याय के लिए राजा के सम्मुख उपस्थित किये जाने पर उन्होंने सारी कथा सच-सच बता दी। उनकी सत्यवादिता से राजा बड़ा प्रभावित हुआ और मनचाहा द्रव्य माँग लेने को कहा ।

वह मन में तर्क-वितर्क करने लगे कि यदि दो सुवर्ण माषक माँगू तो मुश्किल

---

१. अंतगड़दशाओ, षष्ठ वर्ग, अध्ययन ३ ।

से एक धोती खरीद सकूँगा। यदि हजार माँगू तो शरीर को तो आभूषणों से अलंकृत कर लूँगा, किन्तु जीवन-निर्वाह करना कठिन होगा। यदि दस हजार माँगू तो जीवन-निर्वाह तो हो जायगा, किन्तु दास-दासी, हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहन नहीं हो पायेंगे। अचानक उनकी विचार-श्रृंखला को धक्का लगा। उनकी चेतना का प्रवाह बदल गया। उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्य की तृष्णाओं का अंत नहीं है। फलतः उन्होंने जित-क्रोध, जित-मान, जित-माया व जित-लोभ बनने के लिए अनगार श्रमण का साधुवेश धारण कर लिया। उन्होंने एक बार श्रावस्ती के निकट रहनेवाले पाँच सौ चोरों को प्रतिबोधित किया, जिसके फलस्वरूप उन चोरों ने चोरी करना त्याग दिया।[1]

निग्रंथ संघ में कपिल केवली की भाँति जीवन के खट्टे-मीठे अनुभव उठाने वाले और भी साधक थे। अनगार समुद्रपाल भी केवली (सर्वज्ञ) थे। वह चम्पा नगरी के एक प्रसिद्ध पोत-वणिक पालित के पुत्र थे। उनका पिता पोत (जहाज) से देश-देश का भ्रमण करके व्यापार करता था। एक बार वह व्यापार के सिलसिले में जहाज से दक्षिण देश के पिहुँड नामक नगर गया। वहाँ उसने एक वणिक कन्या से विवाह कर लिया। इसी वणिक कन्या ने उनको जन्म दिया। समुद्र-यात्रा के दौरान जन्म होने के कारण उनका नाम समुद्रपाल रख दिया गया।

एक बार वह ऐश्वर्यसम्पन्न जीवन का भोग करते हुए अपने भवन की खिड़की पर बैठे थे। तभी उन्होंने राजमार्ग पर कवच, झूल, ध्वज, पताका, शिरोभूषाओं तथा आयुधों से सज्जित बहुत-से हाथी-घोड़ों और भुजों पर शरासन-पट्टिका (धनुष खींचते समय हाथ की रक्षा के लिए बाँधी जानेवाली चमड़े की पट्टी) तथा शरीर पर चिह्नपट्टिका धारण किये तथा आयुधों से लैस बहुत-से सैनिकों के मध्य एक वध्य पुरुष को जाते देखा। उसके दोनों हाथों को पीठ की तरफ मोड़कर गले और कमर से लिपटी रस्सी से बाँध दिया गया था। उसके नाक और कान काट दिये गये थे। उसे चाबुकों से पीटा जा रहा था और उसके शरीर से मांस के छोटे-छोटे टुकड़े काटकर कौओं को खिलाये जा रहे थे। वह वध्य पुरुषों के योग्य वस्त्र पहने था। नगर के चौराहों पर उसे खड़ा करके फूटे ढोल से उसके कुकर्मों की घोषणा की जा रही थी, जिसके कारण उसे शूली पर चढ़ा देने का दण्ड दिया गया था। इस दृश्य को देखकर उन्हें जीवन की क्षणभंगुरता का बोध हुआ और उन्होंने प्रव्रज्या ले ली।[2]

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ८ तथा तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ३३४-३५।
२. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २१।

निग्रन्थ संघ में ऐसे अनगार भी थे जो बाल्य वय में ही संसार से विरक्त हो गये थे। इनमें अतिमुक्तक कुमार अति प्रसिद्ध थे। वह पोलासपुर के राजकुमार थे। सामान्य रूप से संघ में आठ वर्ष से कम आयु के बालकों को प्रव्रजित नहीं किया जाता था, किन्तु उन्होंने छह वर्ष की उम्र में ही प्रवज्या ले ली थी, इसलिए वह संघ में कुमारश्रमण के नाम से प्रसिद्ध थे। एक बार वर्षावास काल में वह रजोहरण तथा भिक्षापात्र काँख में दबाये दीर्घशंका के लिए निकले। मार्ग में उन्होंने पानी का एक छोटा नाला बहता देखा। उन्होंने नाले की गीली मिट्टी से पाल वनाया और अपने काष्ठपात्र को उसी नाले में डोंगी की भाँति तैराकर चिल्लाना आरम्भ कर दिया : यह मेरी नाव है, यह मेरी नाव है। उनके इस चापल्य को देखकर संघ के स्थविरों को शंका हुई कि क्या इन्हें इसी भव में केवल ज्ञान प्राप्त हो सकेगा? किन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त ने उन्हें आश्वस्त किया कि कुमारश्रमण इसी जीवन में केवली वनेंगे।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थंकर बनने के बाद एक दशक के अन्दर ही उनके निग्रन्थ संघ ने कितनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली, इसका अन्दाज इस वात से लगाया जा सकता है कि मगधराज श्रेणिक बिम्बसार के तेईस पुत्रों और उसकी तेरह रानियों ने उनके निकट प्रव्रज्या ले ली।[2] श्रेणिक ने राज्य में घोषणा करवा दी : जो कोई भगवान के पास प्रवज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहायता दूंगा, रोकूँगा नहीं।[3]

प्राचीन धर्मकथाओं में जहाँ राजा श्रेणिक को निगंठ ज्ञातपुत्त का सवसे श्रद्धालु श्रावक चित्रित किया गया है, वहीं उसके वारे में निगंठ ज्ञातपुत्त के मुख से यह भविष्यवाणी भी करायी गयी है कि श्रेणिक प्रजा का उत्पीडन करने, दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने व धन लूटने, निरपराध प्राणियों का वध करने आदि पापकर्मों के कारण मरने पर नरक जायगा। **आवश्यकचूर्णि** में एक रोचक रूपक-कथा मिलती है :

एक वार श्रेणिक श्रमण भगवान् महावीर के समवसरण में वैठा था। पास में ही एक कोढ़ी वैठा था। भगवान को छींक आयी तो कोढ़ी ने कहा : शीघ्र मरो। इसके वाद जब श्रेणिक को छींक आयी तो उसने कहा : चिरकाल तक जियो। श्रेणिक के ज्येष्ठ पुत्र एवं अमात्य अभयकुमार के छींकने पर उसने

---

१. भगवतीसूत्र, शतक ५, उद्देशक ४।
२. अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रथम तथा द्वितीय वर्ग तथा अंतगड़दशाओ, अष्टम वर्ग।
३. गुणचन्द्र रचित महावीरचरियं।

कहा : चाहे जियो और चाहे मरो। इसके बाद राजगृह के सब से बड़े कसाई कालशौरिक को छींक आयी। कालशौरिक के यहाँ भोजन और वेतन पर बहुत से पुरुष नौकर थे जो प्रति दिन सैकड़ों बकरों, भेड़ों, गायों, भैंसों, मृगों, हरिणों और शूकरों को मारकर उनका मांस उसकी दूकान पर लाते थे और वहाँ उसके बहुत से नौकर उस मांस को तवों, कड़ाहों, हण्डों और अंगारों पर तलते, भूनते, सलाई में लगाकर पकाते और फिर राजमार्ग पर ले-जाकर बेचते थे। उसके छींकने पर कोढी ने कहा : न जियो और न मरो।

राजा श्रेणिक ने भिन्न-भिन्न लोगों के छींकने पर कोढ़ी की भिन्न-भिन्न टिप्पणियों का मर्म समझने के लिए जब भगवान से जिज्ञासा की तो उन्होंने समझाया कि उसने मेरे शीघ्र मरने की कामना इसलिए की है कि मैं शीघ्रता से निर्वाण प्राप्त कर लूँ। तुम्हारे लिए दीर्घजीवी होने की कामना इसलिए की कि जितने अधिक काल तक तुम जीवित रहोगे उतने काल सुखोपभोग कर सकोगे, उसके बाद तो तुम्हें नरक के दुःख भोगने ही पड़ेंगे। अभयकुमार के लिए उसने जीना और मरना इसलिए समान बताया कि वह धर्माचरण कर रहा है, इसलिए इस जीवन में भी सुखोपभोग कर रहा है और मरने के बाद देवलोक में जन्म लेकर भी सुखोपभोग करेगा। कालशौरिक के लिए उसने न जियो और न मरो इसलिए कहा कि उसे न जीने में सुख है और न मरने में। मरने के बाद वह सातवें नरक जायगा।

श्रेणिक को अपने नरकगामी होने की सूचना से भारी चिन्ता हुई। उसने कहा : भन्ते, आप सरीखा मेरा मार्गदर्शक ! और मुझे नरक जाना पड़ेगा ?

निगंठ ज्ञातपुत्त ने कहा : जो व्यक्ति जैसे कर्म करता है उसे वैसे फल अवश्य भोगने पड़ते हैं।

श्रेणिक ने कहा : भन्ते, नरक जाने से बचने का क्या कोई उपाय है ?

निगंठ ज्ञातपुत्त ने कहा : कालशौरिक से कसाईपना छुड़वा दो तो तुम नरक गति से बच सकते हो।

श्रेणिक ने कालशौरिक को तत्काल अन्धकूप में डलवा दिया ताकि उसकी कसाई वृत्ति छूट जाय। परन्तु राजदण्ड के भय से मनुष्य का हृदय-परिवर्तन कभी सम्भव हो सका है ? कालशौरिक कारागार के अन्दर और कोई काम न होने से गीली मिट्टी के भेड़, बकरे और भैंसे बना-बनाकर उन्हें ही मारता रहता था।

निरयावलियाओ में एक रोचक कथा मिलती है, जिसमें कितना ऐतिहासिक

तथ्यांश है, यह कहना कठिन है। परन्तु यदि उसमें कुछ भी तथ्यांश हो तो कहा जा सकता है कि राजा श्रेणिक को अपने इसी जीवन में नरक की यातनाएँ झेलनी पड़ीं। उसके पुत्र कूणिक अजातशत्रु[1] ने मगध के सिंहासन के लोभ में उसे बेड़ियाँ पहना कर बन्दीगृह में डाल दिया और स्वयं सिंहासनारूढ हो गया। श्रेणिक के लिए बन्दीगृह का जीवन नरक भोग से कम यन्त्रणादायक नहीं था और अन्त में उसने आत्मघात कर लिया। पिता की मृत्यु से शोक-संतप्त होकर कूणिक अपनी राजधानी राजगृह से उठाकर चम्पा ले गया, जहाँ वह उपराजा रह चुका था।

प्राचीन जनश्रुतियों में राजा श्रेणिक की भाँति राजा कूणिक (अजातशत्रु) को भी निगंठ ज्ञातपुत्त का श्रद्धालु श्रावक चित्रित किया गया है। वह उनका इतना भक्त था कि उसने एक राजपुरुष की नियुक्ति कर रखी थी जो प्रति दिन उसे सूचना देता था कि निगंठ ज्ञातपुत्त किस स्थान से विहार करके किस स्थान पर समवसृत हुए हैं। इस दैनिक वार्ता को सुनने के बाद ही वह भोजन करता था।

औपपातिक सूत्र में निगंठ ज्ञातपुत्त का विशद वर्णन मिलता है। चम्पा नगरी खाई, खात, वप्र और प्राकार से वेष्टित अपने युग की सबसे जनाकीर्ण नगरी थी। उसके बाजारों में दूर-दूर देशों के वणिक और शिल्पी अपना माल बेचते थे। उसके राजमार्गों पर हाथियों, रथों और पालकियों की भीड़ रहती थी।

एक समय राजा कूणिक अनेक गणनायक, दंडनायक, माण्डलिक राजा, युवराज, चामरधारी, सीमा प्रांत के रक्षक माडम्बिक, कौटुम्बिक, महामंत्री, अमात्य, सेनापति, दूत, ज्योतिषी, पीठमर्द, श्रेष्ठी, सार्थवाह, नैगमिक तथा प्रतिहारियों से घिरा हुआ अपने राजभवन की बाह्य उपस्थानशाला में विराजमान था। तभी वार्तानिवेदक ने आकर सूचना दी कि निग्रन्थ-प्रवचन के शास्ता श्रमण भगवान महावीर अनेक श्रमणों से परिवेष्टित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए चम्पा नगरी के निकट आ पहुँचे हैं।

यह समाचार सुनकर हर्षोत्कम्प से राजा कूणिक के कंकण, बाहुबंद, मुकुट तथा कुण्डल चंचल हो उठे। वह पादपीठ पर पैर रखकर सिंहासन से नीचे उतरा और

---

१. निरयावलिका में उसका नाम कूणिक पड़ने का कारण यह बताया गया है कि उसकी माता रानी चेलना ने उसे पितृघाती लक्षण वाला समझ कर जन्मते ही अशोक वृक्ष के नीचे कूड़े के ढेर पर फिंकवा दिया, जिससे उसकी कानी उँगली में घाव हो गया। बचपन में उसकी उँगली के घाव से बराबर खून और पीब बहता रहता था, इसलिए उसे कूणिक (उँगली के घाव वाला) पुकारा जाने लगा।

पादुकाएँ, खड्ग, छत्र, मुकुट तथा चामर त्याग कर जिस दिशा से तीर्थंकर का आगमन हो रहा था उस दिशा में सात-आठ पग चला, फिर बाँये घुटने को मोड़, दाहिने को ज़मीन पर रखकर तीन बार भूमि की वन्दना की और दोनों हाथ जोड़कर अर्हतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार किया।

दूसरे दिन निगंठ ज्ञातपुत्त अपने शिष्य परिवार के साथ चम्पा नगरी पधार कर पूर्णभद्र चैत्य में समवसृत हो गये। उनके शिष्य परिवार में उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञातृ, कौरव आदि कुलों के अनेक क्षत्रिय, भट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्ठी व धनिक थे, जो विपुल धन-धान्य और हिरण्य-सुवर्ण त्याग कर अनगार बन गये थे। वे सभी अत्यन्त मेधावी, प्रतिभासम्पन्न, कुशल वक्ता तथा पर-वादियों का मान-मर्दन करने में पटु थे। वे जिन-प्रवचन के धारक तथा विविध भाषाओं के पण्डित थे। यह माना जाता था कि उनके हस्त का स्पर्श मात्र रोगों को दूर करने में औषध का कार्य करता है। वे वर्षाकाल को छोड़कर बाकी आठ महीने बराबर एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते रहते थे और ग्राम में एक रात और नगर में पाँच रात से अधिक नहीं ठहरते थे।

नगर में श्रमण भगवान् महावीर के आगमन का समाचार फैलते ही नगर-निवासियों में हलचल मच गयी। सभी उनकी वन्दना करने के लिए उत्सुक हो उठे। कोई घोड़े, कोई हाथी, कोई रथ और कोई पालकी पर सवार होकर और कितने पैदल ही पूर्णभद्र चैत्य की ओर चल पड़े। राजा कूणिक भी अपनी सुभद्रा आदि रानियों के सहित उनकी वन्दना के लिए तैयार होने लगा। राजा की सवारी निकलने की तैयारी में नगर के राजमार्गों पर सुगंधित जल का छिड़काव किया गया तथा धूपादि से उसे सुगंधित गुटिका की तरह महका दिया गया।

महावत ने राजा के हस्तिरत्न को उज्ज्वल वस्त्र पहनाये, वक्षस्थल को रस्सी से बाँधकर दोनों ओर चाँदी के घंटे लटकाये, कवच, झूल, कानों में कर्णपूर, गले में ग्रैवेयक, सिर पर पंच शिरोभूषण, अस्त्र-शस्त्र तथा ढाल से सज्जित किया और उसे राजद्वार पर ला खड़ा किया। यानशालिक ने यानशाला में जाकर यानों को तथा वाहनशाला में जाकर बैलों को निकलवाया और फिर बैलों को यानों में जुड़वा और बहलवानों के हाथ में छड़ी देकर उन्हें राजमार्ग पर ला खड़ा किया।

राजा कूणिक ने स्नानोपरान्त नये बहुमूल्य वस्त्र पहने, गले में हार, बाहुओं में बाहुबंद, हाथों में वीरवलय, उँगलियों में नाममुद्रिकाएँ, कानों में कुण्डल और सिर पर मुकुट धारण किया, फिर छत्र लगाये जयजयकार ध्वनि के बीच

हस्तिरत्न पर सवार हुआ। उसकी सुभद्रा आदि रानियाँ भी सर्वालंकारों से विभूषित होकर देश-विदेश की अनेकानेक कुशल दासियों तथा अंतःपुर की रक्षा के लिए नियुक्त वर्षधर, कंचुकी, महत्तर आदि नपुंसक पुरुषों से घिरी हुई अंतःपुर से बाहर निकलीं और यानों पर सवार हो गयीं।

जिस समय राजा कूणिक पूरे राजसी ठाट-बाट के साथ स्वयं हस्तिरत्न पर सवार होकर और अपनी रानियों को यानों पर सवार कराकर श्रमण भगवान महावीर की वन्दना के लिए पूर्णभद्र चैत्य की ओर रवाना हुआ; शंख, पटह, भेरी, झल्लरी, खरमुही, हुडुक्क, मुरज, मृदंग और दुंदुभि के नाद से चम्पा नगरी का आकाशभाग निनादित हो उठा।

राजा कूणिक का वक्षस्थल हारों से, मुख कुण्डल से, मस्तक मुकुट से तथा सिर छत्र से शोभायमान था। उसके चारों ओर अनेकानेक चामर डुलाये जा रहे थे। उसके आगे-आगे कवच, झूल और आयुधों से सज्जित अश्व तथा अश्वारोही, दोनों बगल आयुधों से सज्जित हाथी और हाथीसवार तथा पीछे-पीछे रथ चल रहे थे।

राजा की सवारी के सबसे आगे अष्ट मंगलद्रव्य (स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण), दंड, छत्र, सिंहासन, पाठपीठ और पादुका लिये अनेक किंकर और कर्मकर चल रहे थे। उनके पीछे लाठी, भाला, धनुष, पाश (फाँसी), पुस्तक, फलक (ढाल), आसन, बीणा, तैलपात्र तथा पानदान-वाहक और उनके पीछे दंडी, मुण्डी, शिखाधारी, जटाधारी, मयूरपिच्छधारी, विदूषक, चाटुकार और भाँड़ हँसते-बोलते,जयजयकार करते हुए चल रहे थे। राजा के आगे-आगे भाला, तोमर, शूल, लकुट, धनुष आदि शस्त्रास्त्रों से लैस पैदल सिपाही चल रहे थे।

राजा की सवारी जिस राजमार्ग से होकर निकलती थी बहुत-से द्रव्यार्थी, भोगार्थी, लाभार्थी, राजकरों से पीड़ित नागरिक, कुम्भकार, तेली, किसान तथा छात्र एकत्र होकर उसका जयजयकार करने लगते थे।

पूर्णभद्र चैत्य पहुँचने पर राजा कूणिक श्रमण भगवान महावीर को दूर से देखते ही अपने हाथी से उतर पड़ा और खड्ग, मुकुट, छत्र, चामर और उपानह, इन पाँच राजचिह्नों को त्याग दिया। सुभद्रा आदि रानियों ने भी यानों से उतर कर स्वामी का अनुगमन किया।

राजा कूणिक ने भगवान के निकट पहुँचने पर हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया और फिर तीन बार प्रदक्षिणा करके उनकी वन्दना की। तदुपरांत वह

हस्त-पाद संकुचित कर, मन को एकाग्र कर धर्म-श्रवण के लिए सभामंडप में बैठ गया। उसकी सुभद्रा आदि रानियों ने भी परिवार सहित स्वामी के पीछे खड़े होकर भगवान की वन्दना की।

राजा कूणिक और उसकी रानियों ने निगंठ ज्ञातपुत्त के प्रवचन को सुनकर उसकी बहुत-बहुत सराहना की। सभी श्रोताओं के मन में यही प्रतिक्रिया हुई कि भगवान जिस सुन्दर रीति से धर्म का प्रतिपादन करते हैं, उस रीति से अन्य कोई श्रमण-ब्राह्मण नहीं करता।[१]

●

१. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ९१, श्लोक १५८-६५।

१

निगंठ ज्ञातपुत्त जिस काल में तीर्थंकर के रूप में बहुजन-सम्मानित हुए, उस काल में छह और ज्ञात-यशस्वी तीर्थंकर विद्यमान थे। संजय बेलट्ठिपुत्र, प्रकुद्ध कात्यायन, पूर्ण काश्यप, अजित केशकम्बलि, मंखलिपुत्र गोशालक तथा गौतम बुद्ध[1]। इन सबके अपने-अपने संघ थे, जिसके कारण वे संघी, संघाधिपति एवं संघाचार्य कहलाते थे। वे सभी जिन, अर्हत तथा सम्यक् सम्बुद्ध होने का दावा करते थे। एक बार राजगृह में इन सभी ने एक साथ वर्षावास किया था। मगधराज कूणिक अजातशत्रु ने इन सभी तीर्थंकरों से वार्ता की थी। कोशलनरेश प्रसेनजित् भी इन सबसे मिला था।

निगंठ ज्ञातपुत्त के इन समकालीन तीर्थंकरों में गौतम बुद्ध और उनके बाद कुछ सीमा तक मंखलिपुत्र गोशालक ने इतिहास पर अपनी गहरी छाप डाली। गौतम बुद्ध अपने समकालीनों में शाक्यपुत्र, शाक्यमुनि तथा श्रमण गौतम के नाम से प्रसिद्ध थे। इसी आधार पर उनके अनुयायी उस काल में शाक्यपुत्रीय श्रमण कहलाते थे। निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवनकाल में तो नहीं, परन्तु उनके बाद बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ उनके निग्रन्थ संघ का सबसे प्रबल प्रतिस्पर्धी बन गया।

मंखलिपुत्र गोशालक का आजीवक संघ भी अपने युग में निग्रन्थ संघ का प्रबल प्रतिस्पर्धी था। गोशालक नियतिवादी थे। वह मानते थे कि इस लोक में सब परिवर्तन नियत हैं और उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम से कुछ नहीं होता। **मज्झिम निकाय** में मंखलिपुत्र गोशालक के अलावा आजीवक संघ के दो और मार्गदर्शकों, नन्द वात्स तथा कृश सांकृत्य[1] का उल्लेख मिलता है। इससे संकेत मिलता है कि आजीवक संघ गोशालक के तीर्थंकर बनने से पहले से वर्तमान था।

निगंठ ज्ञातपुत्त के दस अग्रश्रावकों में पोलासपुर का सद्दालपुत्त कुंभकार पहले आजीवकोपासक था। एक समय वह अपनी दूकान पर हवा से सूखे बर्तनों को अन्दर के कोठे से निकाल कर बाहर धूप में सुखा रहा था। उसी समय निगंठ ज्ञातपुत्त उधर से निकले। उन्होंने उससे पूछा : सद्दालपुत्त, यह बर्तन कैसे बने ?

---

१. बुद्धचर्या, पृ० २४८।

सद्दालपुत्त ने बताया : भन्ते, पहले मिट्टी लायी गयी, फिर उसे पानी में भिगोया गया, फिर उसमें क्षार और गोबर मिलाया गया, तत्पश्चात् उसे चाक पर चढ़ाया गया, तब यह बर्तन बने।

"सद्दालपुत्त, यह बर्तन उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम से बने हैं अथवा उसके बिना बने हैं।"

"भन्ते, यह सब बर्तन उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम से बने हैं। किन्तु इस लोक में सब परिवर्तन नियत हैं; उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम से कुछ नहीं होता।"

"सद्दालपुत्त, यदि कोई पुरुष तुम्हारे हवा लगे अथवा पके बर्तन चुरा ले, फोड़ दे, छीन ले या फेंक दे, अथवा तुम्हारी भार्या अग्निमित्रा के साथ भोग करे तो तुम क्या करोगे ?"

"भन्ते, मैं उस पुरुष को मारूँगा, पीटूँगा, बाँध दूँगा, पैरों तले कुचल दूँगा, धिक्कारूँगा अथवा उसके प्राण ही ले लूँगा।"

"सद्दालपुत्त, तुम तो सब कुछ नियत मानते हो। फिर तुम ऐसा क्यों करोगे ? और यदि ऐसा करोगे तो तुम्हारा यह कथन क्या मिथ्या सिद्ध नहीं होगा कि इस लोक में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम से कुछ नहीं होता।"

निरुत्तर हो जाने पर सद्दालपुत्त ने निगंठ ज्ञातपुत्त की धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर ली। मंखलिपुत्र गोशालक ने पोलासपुर पधारने पर सद्दालपुत्त को निग्रन्थ मार्ग से विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुआ।[1]

इससे प्रकट होता है कि निग्रन्थ संघ और आजीवक संघ प्रारम्भ से अपने को एक-दूसरे का प्रतिस्पर्धी मानते थे और दोनों एक-दूसरे के श्रावकों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त के दूसरे अग्रश्रावक, काम्पिल्यपुर के गृहपति कुंडकौलिक को भी निगंठोपासक से आजीवकोपासक बनाने का भरपूर प्रयत्न किया गया, किन्तु उसने गृहस्थ होते हुए भी जिस रीति से विविध अर्थों, हेतुओं, युक्तियों तथा व्याख्याओं द्वारा अन्य तीर्थिकों को निरुत्तर कर दिया, उसकी प्रशंसा स्वयं निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने अनगार शिष्यों के सम्मुख की।[2]

१. उपासक दशांग, सप्तम अध्ययन।

२. वही, षष्ठ अध्ययन।

सूत्रकृतांग में निगंठ ज्ञातपुत्त के अनगार शिष्य आर्द्रककुमार और एक आजीवक श्रमण के बीच होने वाले वाद का विवरण मिलता है। टीकाकारों ने इस आजीवक श्रमण को आजीवक संघ का आचार्य गोशालक बताया है। गोशालक ने आर्द्रककुमार के निकट यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उसके धर्माचार्य का पूर्व आचरण उनके वर्तमान आचरण से मेल नहीं खाता। पहले वे एकलविहारी थे, अब भारी परिषद के साथ घूमते हैं। पहले मौनव्रती थे, अब हजारों की भीड़ में उपदेश देते फिरते हैं। पहले कई-कई दिन अनशन-तप करते थे, अब प्रति दिन आहार लेते हैं।

अन्त में गोशालक ने कहा : जैसे कोई व्यापारी लाभ की इच्छा से माल बिछाकर भीड़ एकत्र कर लेता है, मुझे तो तुम्हारा ज्ञातपुत्त भी उसी तरह का व्यक्ति मालूम पड़ता है।

आर्द्रककुमार ने गोशालक के सभी आक्षेपों का युक्तिपूर्ण उत्तर देकर उनका खंडन करते हुए कहा : सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाले, धर्म में स्थित और कर्मों का विवेक प्रकट करने वाले भगवान की जो तुम व्यापारी से तुलना करते हो, यह तुम्हारा अज्ञान है। नये कर्म को न करना, अबुद्धि का त्याग करके पुराने कर्मों को नष्ट कर देना, ऐसा उपदेश भगवान करते हैं। वह इसी लाभ की इच्छावाले श्रमण है, ऐसा मैं मानता हूँ। उनका वर्तमान आचरण उनके पूर्व आचरण से विसंगत नहीं कहा जा सकता। भगवान पहले भी अकेले थे और आज भी अकेले हैं। वह जब भीतर की यात्रा कर रहे थे तब बाहर में अकेले थे। वह यात्रा पूर्ण हो गयी है। अब वह बाहर की यात्रा कर रहे हैं, इसलिए अन्तर में अकेले हैं। पहले वह सत्य का साक्षात्कार करने की साधना कर रहे थे, इसलिए उनकी वाणी मौन थी। अब उन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, इसलिए सत्य उनकी वाणी से मुखर होता रहता है। पहले वह इन्द्रियों को वश में करने के लिए उनको तपाते थे, अब वह इन्द्रियजेता हो गये हैं, इसलिए अब उनके लिए अनशन प्रयोजनहीन हो गया है।

भगवतीसूत्र में श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में निगंठ ज्ञातपुत्त से होने वाले वाद में मंखलिपुत्त गोशालक के पराभव का विशद विवरण मिलता है। इस वाद के बाद बहुत-से आजीवक श्रमण गोशालक का आश्रय त्याग कर निग्रन्थ संघ में सम्मिलित हो गये। यह वाद जिस समय हुआ, उस समय निगंठ ज्ञातपुत्त को अपना तीर्थ-प्रवर्तन किये चौदह वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

एक दिन गौतम गणधर श्रावस्ती नगरी में उच्च, निम्न तथा मध्यम कुलों में गोचरी करते हुए जब घूम रहे थे तो उन्होंने सुना कि मंखलिपुत्र गोशालक भी अपने आजीवक संघ के साथ आजीवकोपासिका हालाहला कुंभकारिन की दूकान में ठहरा हुआ है और वह भी अपने को जिन, अर्हत, केवली, सर्वज्ञ घोषित करता है। गौतम गणधर ने कोष्ठक चैत्य लौटने पर यह सूचना अपने गुरु, श्रमण भगवान महावीर को दी। भगवान ने तब अपने संघ को गोशालक का पूरा इतिवृत्त सुनाया, जिससे प्रकट हुआ कि गोशालक हाथ में चित्रफलक लेकर भिक्षा माँगनेवाले मंख-जातीय मंखली नामक भिक्षु का पुत्र था। एक बार मंखली अपनी गर्भवती भार्या भद्रा के साथ हाथ में केदार-पट्ट (शिव का चित्र) लिये भिक्षा माँगता हुआ सरवण नामक सन्निवेश में पहुँचा जहाँ गोबहुल नामक एक वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था। मंखली ने उसी की गोशाला में अपने भंडोपकरण रखे और वर्षावास के लिए किसी उपयुक्त स्थान की बहुत खोज की, और जब कोई अन्य स्थान नहीं मिला तो उसी गोशाला के एक कोने में वर्षावास किया।

भद्रा ने नौ मास साढ़े सात दिन-रात बीतने पर एक सुकुमार स्वरूपवान् बालक को जन्म दिया। बारहवें दिन नामकरण संस्कार के अवसर पर माता-पिता ने गोशाला में जन्म होने के कारण उसका नाम गोशालक रख दिया।

युवा होने पर गोशालक भी स्वतंत्र रूप से हाथ में चित्रफलक लेकर भिक्षा-चरी करने लगा। निगंठ ज्ञातपुत्त तीस वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद जब दूसरे वर्ष मास-मास का उपवास करते हुए राजगृह के शाखानगर नालन्दा में एक तंतुवायशाला में वर्षावास कर रहे थे तो गोशालक भी भिक्षाटन करता हुआ वहीं पहुँचा।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने प्रथम मास के उपवास की पारणा राजगृह के विजय गृहपति के यहाँ की। गोशालक ने जब राजगृह नगर के दोराहों, तिराहों तथा चौराहों पर चर्चा सुनी कि एक उत्तम सौम्य आकारवाले श्रमण को भिक्षालाभ कराने से विजय गृहपति के यहाँ हिरण्य-सुवर्ण तथा पाँच वर्णवाले पुष्पों की वर्षा हुई तो वह भी कुतूहलवश वहाँ पहुँचा। वह जिस समय पहुँचा, निगंठ ज्ञातपुत्त विजय गृहपति के साथ घर से बाहर निकल रहे थे। गोशालक ने उनके निकट जाकर तीन बार प्रदक्षिणा करके उनकी वन्दना की और बोला : भंते, आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका धर्म-अंतेवासी हूँ।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने गोशालक के इस वचन का आदर अथवा परिज्ञान नहीं किया और मौन रहे।

नालन्दा से कुछ दूर पर कोल्लाग सन्निवेश था और उसके बाद पणियभूमि (वज्रभूमि) आरम्भ हो जाती थी। निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने एक मास के चौथे उपवास की पारणा कोल्लाग सन्निवेश के बहुल ब्राह्मण के यहाँ की और इसके बाद वज्रभूमि में विहार करने लगे।

गोशालक भी अपने वस्त्रादि दान कर और मुंडित होकर निगंठ ज्ञातपुत्त को ढूंढता हुआ वज्रभूमि पहुँचा और भेंट होने पर पुनः निवेदन किया : भंते, आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका अंतेवासी हूँ।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने इस बार अपनी मौन स्वीकृति दे दी। इसके बाद दूसरे वर्षावास की समाप्ति से लेकर अनार्य लाढ़ देश के नौवें वर्षावास तक गोशालक छह वर्ष से कुछ अधिक समय तक निगंठ ज्ञातपुत्त के साथ लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सत्कार-असत्कार का अनुभव करता हुआ घूमता रहा। इसी बीच उसने उनसे अपने तपःतेज द्वारा दूसरों को भस्म कर देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेने की तपस्या विधि भी सीख ली और फिर उनसे पृथक् होकर उसकी साधना भी की। तदनन्तर उसकी भेंट छह दिशाचरों से हुई जो पहले पुरुषादानीय पार्श्व के शिष्यानुशिष्य थे, किन्तु अब शिथिलाचारी होकर भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण तथा व्यंजन, इन आठ निमित्तों के आधार पर भविष्य कथन करके जीविकोपार्जन कर रहे थे। गोशालक ने उनसे अष्टांग महानिमित्त के अतिरिक्त गीत एवं नृत्य मार्ग की भी शिक्षा ग्रहण की और इसके बाद उसने निगंठ ज्ञातपुत्त के जिन, अर्हत, केवली, तीर्थंकर बनने से दो वर्ष पूर्व ही श्रावस्ती में अपने को जिन, अर्हत, केवली तथा चरम तीर्थंकर घोषित कर दिया।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जिस समय निगंठ ज्ञातपुत्त तथा मंखलिपुत्त गोशालक में वाद हुआ, गोशालक चौबीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला हो चुका था। उसके छह वर्ष निगंठ ज्ञातपुत्त के साथ शिष्य भाव से ग्रामानुग्राम विहार में बीते थे, दो वर्ष उनसे पृथक् होकर विहार करने में तथा सोलह वर्ष से वह आजीवक संघ का धर्माचार्य बनकर तीर्थंकर के रूप में स्वतन्त्र रीति से विहार कर रहा था।

भगवतीसूत्र की इस दन्तकथा से संकेत मिलता है कि आजीवक संघ का स्रोत भी पुरुषादानीय पार्श्व की शिक्षाएँ थीं। निग्रन्थ श्रमणों की भाँति आजीवक श्रमण भी दुष्कर तपश्चर्या में विश्वास करते थे और उन्हीं की भाँति अचेल रहते थे और अपने अष्टांग महानिमित्त के ज्ञान के बल पर हानि-लाभ, सुख-दुःख तथा जीवन-मरण के सम्बन्ध में भविष्य कथन करते थे, जिससे जनता में

उनका बड़ा मान था। हो सकता है कि इन्हीं सब कारणों से निग्रन्थ संघ और आजीवक संघ एक दूसरे को अपना सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी मानने लगे हों।

अर्हत गोशालक ने जब सुना कि निग्रन्थ संघवालों ने श्रावस्ती में यह प्रचारित कर दिया है कि गोशालक निगंठ ज्ञातपुत्त का धर्म-अन्तेवासी रह चुका है और वह जिन नहीं, जिन-प्रलापी है तो यह बात उसके हृदय में शल्य की तरह गड़ गयी।

उसने निगंठ ज्ञातपुत्त के एक अन्तेवासी आनन्द स्थविर को भिक्षाचर्या के लिए मार्ग में जाते देखकर अपने पास बुलाया और उनसे कहा : आनन्द, तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्त को बहुत यश प्राप्त हुआ है। सर्वत्र लोग श्रमण भगवान महावीर कहकर उनकी स्तुति करते हैं। यदि वह मेरे विरुद्ध कुछ भी कहेंगे तो मैं अपने तपस्तेज से उन्हें भस्म कर दूँगा। तुम अपने धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्त से यह बात कह देना।

आनन्द स्थविर ने जब यह सूचना भगवान को दी तो उन्होंने गौतम गणधर तथा अन्य सभी शिष्यों से कहला दिया कि गोशालक ने निग्रन्थों के साथ अनार्यपने का आचरण आरम्भ कर दिया है, इसलिए कोई उसके साथ उसके मत के प्रतिकूल धर्मचर्चा न करे।

आनन्द स्थविर जिस समय भगवान की यह आज्ञा संघ को सुना रहे थे, उसी समय अर्हत गोशालक आजीवक संघ के सहित स्वयं कोष्ठक चैत्य आ पहुँचा। उसने श्रमण भगवान महावीर से न दूर और न अति निकट खड़े होकर कहा : आयुष्मान् काश्यप, सुनो! तुम मेरे विषय में कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म-अंतेवासी है। किन्तु तुम्हारा धर्म-अंतेवासी मंखलिपुत्र गोशालक तो काल करके देवलोक में उत्पन्न हुआ है। मैं तो कुंडियायन-गोत्रीय उदायी हूँ।

इसके बाद उसने अपने सिद्धांत का विस्तृत वर्णन किया, जिसके अनुसार सिद्ध बनने से पूर्व जीव को सात बार एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। उन्होंने बताया कि हालाहला कुंभकारिन की दूकान में मैंने गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर को त्याग कर यह सातवाँ शरीरांतर-प्रवेश मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में किया है, क्योंकि यह शरीर विविध परीषहों तथा उपसर्गों को सहन करने में समर्थ है। आयुष्मान् काश्यप, तुम मुझे खूब कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म-अंतेवासी है।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने उत्तर दिया : गोशालक, जिस प्रकार कोई चोर हो, वह ग्रामवासियों से पराभूत होकर किसी गड्ढे, गुफा, दुर्ग, पर्वत, निम्न अथवा विषम

स्थान में छिपने योग्य स्थान न पाकर ऊन, सन या रुई के रेशे से अथवा तिनके के अग्रभाग से अपने को ढँक ले और न ढँका होने पर भी अपने को ढँका हुआ मान ले, उसी प्रकार तुम भी अपने को छिपाना चाहते हो। गोशालक, तुम अन्य न होते हुए भी अपने को अन्य कह रहे हो, ऐसा मत करो।

निगंठ ज्ञातपुत्त के इस कथन पर अर्हत गोशालक ने अत्यंत क्रुद्ध होकर अपने तपस्तेज से उन्हें भस्म कर देने का प्रयास किया, किन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त के अनंत क्षमाशील होने के कारण अर्हत गोशालक का तपस्तेज उनके शरीर में तीव्र दाहयुक्त पित्तज्वर तथा रक्तातिसार उत्पन्न करने के अलावा और कोई अनिष्ट करने में असमर्थ रहा। मेढिय ग्राम की रेवती गाहापत्नी के यहाँ भिक्षा में प्राप्त मार्जारकृत कुक्कुटमांस (वायुनाशक बिजौरापाक) का सेवन करने से उनका रोग शमित हो गया और इस कांड के बाद भी वे सोलह वर्ष तक गंध-हस्ती की भाँति विचरण करते रहे, किन्तु गोशालक की मृत्यु सातवीं रात में ही हो गयी।[1]

इस दंतकथा में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह कहना कठिन है, किन्तु इससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि श्रावस्ती में दोनों तीर्थंकरों में परस्पर वाद हुआ था, जिसकी चर्चा सारे नगर में फैल गयी थी। इस वाद में अर्हत गोशालक को निस्तेज करने के बाद निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने शिष्यों को आजीवकों से शास्त्रार्थ करके उनके मत का खंडन करने की खुली छूट दे दी जिसके फलस्वरूप बहुत-से आजीवक निग्रंथ संघ में आ गये।

आजीवकों को निस्तेज करने के बाद ही अगले वर्ष निग्रंथ संघ को दूसरी बड़ी सफलता मिली जब पार्श्वापत्य श्रमणों के महायशस्वी नेता केशी कुमार-श्रमण भी निगंठ ज्ञातपुत्त के शिष्य बन गये। **उत्तराध्ययन सूत्र** में गौतम गणधर तथा केशी कुमार-श्रमण के सम्मिलन का वर्णन मिलता है।

एक समय केशी कुमार-श्रमण श्रावस्ती नगरी के तिंदुक उद्यान में अपने शिष्यसंघ के साथ ठहरे हुए थे। पुरुषादानीय पार्श्व तथा निगंठ ज्ञातपुत्र, दोनों के शिष्य अनुभव कर रहे थे कि दोनों तीर्थंकरों की शिक्षाएँ एक हैं, फिर यह संघ-भेद क्यों? क्यों न दोनों के संघों को एक में मिला दिया जाय? यह सोच कर केशी कुमार-श्रमण के ज्येष्ठ कुल का विचार करके गौतम गणधर अपने शिष्यसंघ के साथ उनसे मिलने स्वयं तिंदुक उद्यान गये। इस अवसर पर बहुत-से अन्यतीर्थिक तथा हजारों गृहस्थ भी कुतूहलवश वहाँ पहुँच गये।

१. भगवतीसूत्र, शतक १५।

केशी कुमार-श्रमण ने पहला प्रश्न किया : हे मेधावी, महामुनि वर्धमान ने पंच महाव्रत रूप धर्म कहा है और महामुनि पार्श्व ने चातुर्याम धर्म कहा है। इस भेद का कारण क्या है ?

गौतम गणधर ने उत्तर दिया : धर्मतत्त्व का विनिश्चय प्रज्ञा द्वारा होता है। इसीलिए जिस समय लोगों की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश दिया जाता है। पहले के लोग सरल और प्रज्ञावान् होते थे, थोड़े में समझ लेते थे। इसीलिए महामुनि पार्श्व ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया। आजकल के लोग वक्र-जड़ होते हैं, इसीलिए महामुनि वर्धमान ने पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया है। दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

केशी कुमार-श्रमण ने पुनः प्रश्न किया : महामुनि वर्धमान ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया है और महामुनि पार्श्व ने सांतरोत्तर[1] धर्म का। इस लिंग-भेद का कारण क्या है ?

गौतम गणधर ने उत्तर दिया : लिंग (वेश) का प्रयोजन लोक को यह जानकारी देना होता है कि अमुक साधु हैं। संयम-रक्षा तथा संयम-साधना भी लिंग का प्रयोजन होता है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन तथा चरित्र की उपलब्धि दोनों लिंगों का प्रयोजन है। अतएव यह वाह्य लिंग-भेद महत्त्व का नहीं है।

गौतम गणधर ने जब केशी श्रमण के सभी संशयों का निवारण कर दिया तो उन्होंने चातुर्याम के स्थान पर पंचयाम धर्म अंगीकार कर लिया।[2] पार्श्वापत्य श्रमणों तथा वैशालिक श्रमणों के इस एकीकरण से निर्ग्रंथ संघ की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

बौद्धागमों से प्रकट होता है कि श्रमण गौतम ने जिस समय अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, निर्ग्रंथ संघ अपने चरम उत्कर्ष पर था। निगंठ ज्ञातपुत्त उस समय वृद्ध, उत्तरावस्था को प्राप्त तथा चिरप्रव्रजित तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। एक समय जब श्रमण गौतम राजगृह के गृद्धकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे तो उन्होंने ऋषिगिरि की कालशिला पर बहुत-से निर्ग्रंथों को खड़े होकर दुष्कर तपस्या करते देखा। उन्होंने उन निर्ग्रंथों के निकट जाकर पूछा : आवुस निगंठों ! क्यों तुम कटु, तीव्र वेदना झेल रहे हो ? इस पर उन्होंने कहा :

---

१. सांतरोत्तर का आशय अंतर वस्त्र (अधो वस्त्र) तथा उत्तरीय वस्त्र से है। महामुनि पार्श्व ने अपने श्रमणों को इन दो वस्त्रों को रखने की अनुमति दी थी, किन्तु इनका उपयोग वे आवश्यकता पड़ने पर ही करते थे।

२. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २३।

आवुस ! निगंठ ज्ञातपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वह कहते हैं—जो तुम्हारा पहले का किया हुआ कर्म है, उसे कटु, दुष्कर तपस्या से नाश करो। और जो इस समय यहाँ कार्य-वचन-मन से संवर कर रहे हो, इससे भविष्य में पाप का आस्रव न होगा। इस प्रकार पुराने कर्मों का तपस्या से अंत होने तथा नये कर्मों का बंध न होने से भविष्य में आस्रव-रहित बनोगे। भविष्य में आस्रव न होने से कर्मों का क्षय होगा, कर्मों के क्षय से दुःख का क्षय होगा, दुःख-क्षय से वेदना-क्षय और वेदना-क्षय से सभी दुःख नष्ट होंगे (अर्थात् निर्वाण-प्राप्ति होगी)। हमें यह विचार रुचता है और हम इससे संतुष्ट हैं।[1]

इससे संकेत मिलता है कि श्रमण गौतम के तीर्थंकर काल में सभी निग्रंथ श्रमण एक स्वर से निगंठ ज्ञातपुत्र को अपना मार्गदर्शक स्वीकार करने लगे थे। राजगृह निग्रंथ संघ का प्रधान केन्द्र था। इसके अतिरिक्त नालंदा, वैशाली तथा श्रावस्ती भी उसके मुख्य केन्द्र थे। स्वयं श्रमण गौतम के पितृव्य शाक्यराजा वप्प (पार्श्वापत्य) निग्रंथों के श्रावक थे।[2] श्रमण गौतम ने बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए छह वर्ष की जो तपस्या की थी, उसके दौरान उन्होंने (पार्श्वापत्य) निग्रन्थों की तपस्या विधि भी अपनायी थी। एक बार उन्होंने अपने धर्म-सेनापति सारिपुत्र के सम्मुख अपने श्रीमुख से अपनी उस दुश्चर तपस्या का वर्णन किया था। उस काल में वह अचेल (नग्न) रहते थे, हथेली पर भोजन करते थे, अपने हाथ से अपने सिर और दाढ़ी के केशों का लोच कर डालते थे, स्नान नहीं करते थे, जिसके कारण शरीर पर मैल की पपड़ी इस तरह जम गयी थी जैसे पपड़ी पड़ा अनेक वर्षों का तिंदुक काष्ठ हो। भीषण बनखंड में, जिसमें प्रवेश करते ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जायँ, एकान्तवास करते थे, कभी खड़े होकर ध्यान करते थे और कभी उकड़ूँ गोदोहन आसन से, अपने उद्देश्य से अथवा निमन्त्रणपूर्वक दी गयी भिक्षा के त्यागी थे, कभी एक कँवल अथवा एक कलछी आहार लेते थे, कभी दो कँवल अथवा दो कलछी और कभी सात कँवल अथवा सात कलछी, कभी भिक्षा के लिए केवल एक घर में जाते थे, कभी दो घरों में और कभी सात घरों में, कभी दो दिनों का उपवास करते थे, कभी सप्ताह भर का और कभी दो सप्ताह का। इस अल्पाहार के कारण उनके अंग-प्रत्यंग ऐसे हो गये थे जैसे अस्सी वर्ष के बूढ़े हों। ऊँट के पाँव जैसे कूल्हे हो गये थे, पीठ की हड्डियों के काँटे ऐंठी हुई रस्सी के समान तथा पसलियाँ किसी जर्जर शाला की अस्त-व्यस्त कड़ियों के समान दिखाई पड़ती थीं। आँखों की पुतलियाँ गड्ढे में घुस

---

१. बुद्धचर्या, पृ० २१४-१५। २. अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा, भाग २, पृ० ५५९।

जाने से ऐसी लगती थीं जैसे कुएँ के अन्दर तारे टिमटिमा रहे हों। पेट की चमड़ी पीठ के कांटे से लग गयी थी। सिर की चमड़ी वैसी हो गयी थी जैसी कच्ची लौकी तोड़ लेने पर सूखने के बाद हो जाती है।[१]

निगंठ ज्ञातपुत्त तथा श्रमण गौतम दोनों की जीवनगाथा में बहुत-सी समानताएँ मिलती हैं। दोनों का जन्म गणराज्यों में हुआ था। निगंठ ज्ञातपुत्त यदि वैशालिक थे तो श्रमण गौतम कोशलक थे। दोनों मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय कुलों के रत्न थे और अपना सम्बन्ध इक्ष्वाकु कुल से जोड़ते थे। दोनों कौन-सा जीवन-मार्ग कल्याणकर है, इसकी गवेषणा में भरी तरुणाई में ही प्रव्रज्या ग्रहण करके अनगार श्रमण बन गये थे।

श्रमण गौतम सम्यक् सम्बुद्ध होने के बाद जब कोशल के राजा प्रसेनजित् से मिले तो उसने सबसे पहली टिप्पणी उनके अल्पवयस्क होने पर की। उसने कहा कि पूर्ण काश्यप, मंखलि गोशाल, निगंठ ज्ञातपुत्त, संजय बेलट्ठिपुत्त, प्रकुद्ध कात्यायन तथा अजित केशकम्बली जैसे ज्ञात-यशस्वी बहुजन-सम्मानित तीर्थंकरों के मुकाबले में आप अभी अल्पवयस्क तथा प्रव्रज्या में नये हैं, फिर भी सम्यक् सम्बुद्ध होने का दावा करते हैं? इस पर श्रमण गौतम ने उत्तर दिया : क्षत्रिय, सर्प, अग्नि तथा शील-सम्पन्न भिक्षु—इन चार को अल्पवयस्क समझकर उनका कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए।[२]

इस संवाद से प्रकट होता है कि श्रमण गौतम केवल निगंठ ज्ञातपुत्त ही नहीं, अन्य पाँच तीर्थंकरों के मुकाबले में भी अल्पवयस्क तथा प्रव्रज्या काल में नये थे। प्राचीन जनश्रुतियों में जो राजा निगंठ ज्ञातपुत्त के समकालीन वर्णित किये गये हैं, वे श्रमण गौतम के भी समकालीन बताये गये हैं। इससे दोनों तीर्थंकरों की समसामयिकता सिद्ध होती है। जैनागमों में जो राजा निगंठ ज्ञातपुत्त के श्रावक चित्रित किये गये हैं वे ही बौद्धागमों में श्रमण गौतम के श्रावक दिखाये गये हैं। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अमुक राजा पहले निगंठ ज्ञातपुत्त अथवा श्रमण गौतम का श्रावक था और बाद में अमुक का श्रावक हो गया। इस प्रकार का निष्कर्ष बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस काल में राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजारंजन होता था। उसकी प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य प्रजा का योग-क्षेम अथवा कल्याण होता था। वह भी अपने को

---

१. महसीहनाद सुत्तन्त (मज्झिम निकाय)। २. बुद्धचर्या, पृ० ८५-८६।

प्रजा का एक वेतनभोगी सेवक मानता था। अन्य राजपुरुषों के लिए जब कि वह स्वयं वेतन तथा भोजन की व्यवस्था करता था, प्रजा उसके वेतन की व्यवस्था करों के रूप में करती थी। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी प्रजा के अनुकूल वेश-भूषा, भाषा और आचार धारण करे, प्रजा जिन चैत्यों तथा धर्माचार्यों का सम्मान् करती हो, उनके प्रति वह भी अपनी भक्ति का प्रदर्शन करे। इस आधार पर जैनागमों तथा बौद्धागमों में आये उल्लेखों का सामान्य रीति से शाब्दिक अर्थ लगाना समीचीन नहीं प्रतीत होता। उनका भावार्थ यही लगाना चाहिए कि उनके धर्माचार्यों के प्रति उल्लिखित राजा भी आदर तथा श्रद्धा का भाव प्रदर्शित करता था।

यद्यपि निगंठ ज्ञातपुत्र तथा श्रमण गौतम का एक-दूसरे से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ, तथापि दोनों तीर्थंकरों के एक ही समय एक स्थान पर विहार होने का उल्लेख अवश्य मिलता है। दोनों के अनगार तथा गृहस्थ शिष्यों में बराबर वाद-विवाद होते रहते थे। एक बार जब निगंठ ज्ञातपुत्त नालन्दा में वास कर रहे थे तो श्रमण गौतम भी बड़े भारी भिक्षुसंघ के साथ वहाँ पहुँचे और प्रावारिक श्रेष्ठी के आम के बगीचे में वर्षावास किया। उस समय नालन्दा अकाल और महामारी से ग्रस्त था। खेतों में अनाज से लदे हरे-भरे पौधों के बजाय चारों ओर खूँटियाँ ही खूँटियाँ दिखाई पड़ती थीं। नालन्दा का ग्रामणी असिबन्धकपुत्र निगंठ ज्ञातपुत्त का श्रावक था। निगंठ ज्ञातपुत्त ने उसे श्रमण गौतम से यह कहने के लिए भेजा कि ऐसे समय जब कि नालन्दावासियों को पेट के लाले पड़े हैं, श्रमण गौतम का इतने बड़े भिक्षुसंघ के साथ यहाँ आना क्या औचित्यपूर्ण माना जायगा ?[1]

इसी प्रकार एक बार और निगंठ ज्ञातपुत्त और श्रमण गौतम का एक साथ नालंदा में विहार हुआ। उस समय निगंठ ज्ञातपुत्त के अनगार शिष्य दीर्घ-तपस्वी से उनका वाद-विवाद हुआ जो अपूर्ण रहा। इसके बाद निगंठ ज्ञातपुत्त ने उनसे वाद करने के लिए अपने गृहस्थ श्रावक उपालि गृहपति को भेजा। उपालि को दर्प था कि वह वाद में श्रमण गौतम की स्थिति उसी प्रकार कर देगा जिस प्रकार शराब तैयार करनेवाला कर्मकर भट्ठी के बड़े टोकरे को गहरे पानीवाले तालाब में फेंककर उसे कानों से पकड़कर निकालता, घुमाता और डुलाता है। परन्तु श्रमण गौतम के पास जाकर वह स्वयं उनके वाद के जाल में फँस गया।[2]

---

१. बुद्धचर्या, पृ० १०३-१०४। २. वही, पृ० ४१४-२३।

वैशाली में भी निगंठ ज्ञातपुत्त तथा श्रमण गौतम के एक साथ विहार का उल्लेख मिलता है। वैशाली के सेनापति सिंहभद्र का कुल दीर्घ काल से निग्रंथों के लिए प्याऊ की भाँति था। सिंहभद्र वैशाली के गणराजा चेटक का पुत्र था। लिच्छवियों के संस्थागार में श्रमण गौतम की प्रशंसा सुनकर उसके मन में भी उनका दर्शन करने की इच्छा जाग उठी। किन्तु दो बार निगंठ ज्ञातपुत्त के यह कह देने पर कि 'तू क्या क्रियावादी होकर अक्रियावादी श्रमण गौतम के दर्शन को जायगा', वह रुक गया, परन्तु तीसरी बार वह उन्हें सूचित किये बिना ही पाँच सौ रथों के साथ उनका दर्शन करने के लिए महावन की कूटागारशाला पहुँच गया और दूसरे दिन उनके भिक्षुसंघ को भोजन का आमंत्रण दे आया। निग्रंथ श्रमण मांसाहार को सबसे बड़ा पाप मानते थे। वे अपने उद्देश्य से तैयार किया गया आहार भिक्षा में ग्रहण करना भी निंद्य मानते थे। किन्तु श्रमण गौतम ने अपने श्रमणों को निमंत्रणपूर्वक आहार ग्रहण करने तथा मांसाहार के तैयार करने में यदि उनके उद्देश्य से जीवहिंसा न की गयी हो तो उसे भी स्वीकार कर लेने की छूट दे रखी थी। सेनापति सिंहभद्र ने श्रमण गौतम के भिक्षु संघ के लिए बहुत से पशुओं का वध कराकर मांस तैयार कराया, जिसके फलस्वरूप निग्रंथ श्रमणों को वैशाली की एक सड़क से दूसरी सड़क तथा एक चौरस्ते से दूसरे चौरस्ते पर घूम-घूमकर और बाँह उठाकर चिल्लाते हुए यह प्रचारित करने का अवसर मिल गया कि आज सिंह सेनापति ने मोटे-मोटे पशुओं को मारकर श्रमण गौतम के लिए भोजन पकाया। श्रमण गौतम जान-बूझकर अपने ही उद्देश्य से तैयार किये गये उस मांस को खाते हैं।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त को सम्भवतः श्रमण गौतम के भिक्षुसंघ में देवदत्त द्वारा फूट डालने की पूरी सूचना थी। देवदत्त जब ५०० वज्जीपुत्तकों का पृथक् संघ बनाकर विहार करने लगा तो श्रमण गौतम ने उसके इस दुष्कृत्य पर उसके नरक गामी होने की भविष्यवाणी की। इस पर निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपने श्रावक राजकुमार अभय को श्रमण गौतम के पास इस विषय पर वाद करने के लिए भेजा कि क्या तथागत के लिए अज्ञ संसारी जीवों की भाँति इस प्रकार के वचन बोलना उचित माना जायगा।[2]

निग्रंथ संघ में श्रमण गौतम के शाक्यपुत्रीय श्रमणों को क्षणिकवादी कहा जाता था, क्योंकि वे संसार की सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते थे। वे विज्ञान-

---

१. बुद्धचर्या, पृ० १३८-४०। २. वही, पृ० ४२४।

रूप आत्मा को भी नाम-रूप आदि पाँच स्कंधों का समुदाय और शरीर की भाँति क्षण-क्षण में परिवर्तनशील मानते थे। इसी आधार पर निग्रंथ संघ में शाक्यपुत्रीय श्रमणों को बहुधा अक्रियावादी कहकर उनकी आलोचना की जाती थी। निग्रंथ श्रमण मानते थे कि मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं कर्ता एवं भोक्ता होता है। इसी आधार पर वे अपने को क्रियावादी कहते थे और अक्रियावाद को अज्ञानवाद का ही दूसरा रूप मानते थे।

निग्रंथ संघ में अन्य-तीर्थिकों की भ्रान्त धारणाओं का खंडन करने के लिए उनका वर्गीकरण चार श्रेणियों में किया जाता था : क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी तथा विनयवादी। जो आत्मा, परलोक, कर्मफल आदि को नहीं मानते थे उनको अक्रियावादी की श्रेणी में रखा जाता था। इसी आधार पर श्रमण गौतम को ही नहीं, पूर्ण काश्यप, अजित केशकम्बली तथा प्रकुद्ध कात्यायन को भी अक्रियावादी कहा जाता था। अक्रियावादियों में पूर्ण काश्यप, के अनुयायियों की संख्या जनश्रुतियों में अस्सी हजार बतायी गयी है। इससे मालूम पड़ता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त के समकालीन तीर्थंकरों में श्रमण गौतम तथा मंखलिपुत्र गोशालक के बाद सम्भवतः पूर्ण काश्यप सबसे प्रभावशाली थे।

अर्हत पूर्ण काश्यप सांख्यवादियों की भाँति आत्मा को निष्क्रिय मानते थे। वह जीव की क्रिया करने की प्रवृत्ति को स्वाभाविक मानते थे, उसके फल पाप या पुण्य का कर्मबन्ध नहीं मानते थे। वह कहते थे कि यदि कोई दान देते, दिलाते, यज्ञ करते, कराते गंगा के उत्तरी तीर पर भी जाय तो इसके कारण पुण्य या पुण्य का आगम नहीं होता। इसी प्रकार यदि कोई छुरे से भी तेज चक्र द्वारा प्राणियों का वध करके मांस का खलिहान लगा दे तो भी इसके कारण पाप या पाप का आगम नहीं होता।[1]

अर्हत अजित केशकम्बली लोकायतवादियों की भाँति आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य चार महाभूतों से मिलकर बना है। शरीर छोड़ने पर उसका पृथ्वी-तत्त्व पृथ्वी में विलीन हो जाता है, जल-तत्त्व जल में, अग्नि-तत्त्व अग्नि में तथा वायु-तत्त्व वायु में। इन्द्रियाँ आकाश में विलीन हो जाती हैं। आत्मा है, यह कहना मिथ्या है। मरने पर पंडित और मूर्ख, सभी का पूर्ण उच्छेद हो जाता है।

अर्हत प्रकुद्ध कात्यायन सात पदार्थों को अकृत तथा शाश्वत मानते थे। इनमें वह पृथ्वीकाय, अग्निकाय, तेजकाय, वायुकाय, सुख-दुःख तथा जीव की

---

१. बुद्धचर्या, पृ० ४२६-४३।

गणना करते थे। वह इन सात पदार्थों को कूटस्थ, नित्य तथा नगरद्वार के स्तम्भ की भाँति अचल मानते थे। वे चल नहीं होते, विकार को नहीं प्राप्त होते। वह सम्पूर्ण लोक को नियत तथा निष्क्रिय मानते थे।[1]

निर्ग्रंथ संघ में इन सभी अक्रियावादियों को बाल, अज्ञ, अनाचारी तथा संसार का अन्त करनेवाले नहीं वरन् संसार बढ़ाने वाले माना जाता था। अज्ञानवादियों तथा विनयवादियों की गणना भी इन्हीं की कोटि में की जाती थी। अज्ञानवादियों में अर्हत संजय बेलट्ठिपुत्र मुख्य थे। वह तत्त्व को अज्ञेय मानते थे। क्या परलोक है? यह प्रश्न करने पर वह उत्तर देते थे कि परलोक प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए मैं यह नहीं कहता कि परलोक है। किन्तु मैं यह भी नहीं कहता कि परलोक नहीं है और न यह कि परलोक है और नहीं है और न यह कि न परलोक है और न नहीं है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे कर्मों का फल होता है या नहीं? मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं? इन सब प्रश्नों का उत्तर भी वह अनिश्चयात्मक देते थे। वह मानते थे कि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नहीं और अधूरे ज्ञान से ही विवाद होता है और भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। इसलिए वह अज्ञान को कल्याणरूप मानते थे।[2]

विनयवादी भी आत्मा आदि के सम्बन्ध में कोई मत नहीं प्रकट करते थे और शील के पालन से ही मुक्ति मानते थे। **भगवतीसूत्र** में मौर्यपुत्र तामली का उल्लेख मिलता है जो ताम्रलिप्ति में निरन्तर ऊर्ध्वबाहु होकर तथा सूर्य के सम्मुख खड़े होकर तपस्या करते थे। वह प्रणामी प्रव्रज्या के धारक थे और मार्ग में राजा, मन्त्री, पुरोहित, सार्थवाह, कौआ, कुत्ता, चांडाल आदि जिसे भी जहाँ देखते, वहीं ऊँचे देखकर ऊँचे और नीचे देखकर नीचे प्रणाम करते थे।[3] दानामा प्रव्रज्या के धारक दूसरे विनयवादी पूरण गृहपति का भी उल्लेख मिलता है जो विन्ध्याचल क्षेत्र के निवासी थे। वह चार खंडवाला भिक्षापात्र रखते थे। पहले खंड में जो भिक्षा आती उसे मार्ग में मिलने वाले पथिकों को बाँट देते, दूसरे खंड की भिक्षा कौओं और कुत्तों को तथा तीसरे खंड की भिक्षा मछलियों और कछुओं को खिला देते और चौथे खंड में जो भिक्षा आती थी, उसे स्वयं ग्रहण करते थे।[4]

---

१. बुद्धचर्या, पृ० २४३-४७। २. वही, पृ० २४६। ३. भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देश १। ४. वही, शतक ३, उद्देश २।

दीर्घनिकाय में एक विनयवादी श्रावक का उल्लेख मिलता है। राजगृह का सिगाल गृहपति प्रति दिन प्रातःकाल नगर के बाहर जाकर भीगे वस्त्र, भीगे केश, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः नाना दिशाओं को हाथ जोड़कर नमस्कार करता था। उसने यह विनयवाद अपने पिता से ग्रहण किया था।[1]

त्रिपिटकों में ऐसे कई अन्यतीर्थिक परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अपने युग के सभी तीर्थंकरों से वाद-विवाद किया था। राजगृह के वेणुवन के निकट परिव्राजकाराम में सुकुल उदायी परिव्राजक महती परिव्राजक-परिषद के साथ वास करता था। इन परिव्राजकों में प्रायः चर्चा होती रहती थी कि समकालीन तीर्थंकरों में कौन अपने श्रावकों से सबसे अधिक सत्कार पाता है।[2] कौशाम्बी के निकट प्लक्षगुहा में संदक परिव्राजक पाँच सौ परिव्राजकों के साथ वास करता था। एक बार श्रमण गौतम के प्रमुख शिष्य आनन्द स्थविर ने उसके साथ चर्चा में सभी समकालीन तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न वादों की आलोचना की थी।[3] वैशाली में निगंठ-पुत्र आग्निवेश्यायन गोत्रीय सच्चक को बहुत सम्मान प्राप्त था। उसका दावा था कि मैं किसी ऐसे श्रमण या ब्राह्मण संघाचार्य, गणाचार्य को ही नहीं बल्कि अपने को अर्हत, सम्यक् सम्बुद्ध कहनेवाले को भी नहीं देखता जो मेरे साथ वाद रोपकर कम्पित, सम्प्रकम्पित न हो, जिसकी काँख से पसीना न छूटने लगे। यदि मैं अचेतन स्तम्भ से भी शास्त्रार्थ आरम्भ करूँ तो वह भी मेरे वाद से कम्पित, सम्प्रकम्पित हो जाय, आदमी की तो बात ही क्या है? उसने भी सभी समकालीन तीर्थंकरों से वाद किया था।[4]

बौद्धागमों में निगंठ ज्ञातपुत्त के अनेक श्रावकों को श्रमण गौतम द्वारा अपने श्रावक बना लेने का उल्लेख मिलता है। इनमें नालन्दा का उपालि गृहपति तथा वैशाली का सिंह सेनापति मुख्य था। श्रमण गौतम के बारे में दीर्घतपस्वी निग्रंथ के मुख से कहलाया गया है : भन्ते! श्रमण गौतम मायावी है। दूसरों की मति फेरनेवाली माया जानता है, जिससे दूसरे तीर्थिकों के श्रावकों की मति अपनी ओर फेर लेता है।[5] किन्तु यह चित्र का केवल एक पहलू है। जैनागमों में चित्र का दूसरा पहलू भी मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि श्रमण गौतम के तीर्थंकर काल में भी निग्रंथ संघ से निर्गमन की अपेक्षा उसमें अन्यतीर्थिकों का आगमन

---

१. बुद्धचर्या, पृ० २५७। २. वही, पृ० २४९। ३. वही, पृ० २४३-४७। ४. सच्चकसुत्तन्त (मज्झिम निकाय)। ५. बुद्धचर्या, पृ० ४१६।

अधिक हुआ। पार्श्वापत्य केशी कुमार-श्रमण के संघ का निग्रंथ संघ में विलयन होने के बाद पुरुषादानीय पार्श्व के सभी शिष्यानुशिष्यों ने निगंठ ज्ञातपुत्र का शासन स्वीकार कर लिया। इनमें गांगेय अनगार भी थे, जिन्होंने वाणिज्यग्राम के द्विपलाश चैत्य में निगंठ ज्ञातपुत्त से अपने सभी तात्त्विक प्रश्नों का उत्तर पाकर उन्हें सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया।[1] नालंदा के पूर्वोत्तर में एक उदकशाला थी। वहाँ के लेप नामक गृहपति ने अपने गृहनिर्माण से बचे द्रव्य से उसका निर्माण कराया था, इसलिए उसका नाम शेषद्रव्य पड़ गया था। उसी के निकट हस्तियाम वनखंड था। एक बार उसी वनखंड में पार्श्वापत्य श्रमण पेढालपुत्र उदक और गौतम गणधर में वाद हुआ। इस वाद में गौतम गणधर ने उदक की अनेक भ्रांत धारणाओं का निराकरण कर दिया और वह निग्रंथ संघ में सम्मिलित हो गया।[2]

इसी प्रकार राजगृह के गुणशील चैत्य के निकट कालोदायी, शैलोदायी, सेवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलोपालक, शंखपालक तथा सुहस्ती नामक अन्यतीर्थिक परिव्राजक रहते थे। एक बार मुद्दक श्रमणोपासक को जाते देखकर उन्होंनें उसे अपने पास बुलाया और उससे निगंठ ज्ञातपुत्त द्वारा निरूपित पंचास्तिकायों के बारे में प्रश्न किये।

उन्होंने कहा : मुद्दक ! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्त पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें एक को जीव और शेष चार को अजीव, एक को रूपी और शेष चार को अरूपी बखानते हैं। इस विषय में तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं ?

मुद्दक ने उत्तर दिया : अस्तिकाय अपने-अपने कार्यों से जाने जाते हैं। संसार में कुछ पदार्थ दृश्य होते हैं और कुछ अदृश्य, जो अनुभव, अनुमान तथा अपने कार्य से जाने जाते हैं।

परिव्राजकों ने कहा : मुद्दक, तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य के द्वारा निरूपित द्रव्यों को देखता-जानता नहीं, फिर उनको मानता कैसे है ?

मुद्दक ने उत्तर दिया : तीर्थिकों, हवा चलती है, आप उसका रूप देखते हैं ?

"नहीं, सूक्ष्म होने से हम हवा का रूप नहीं देख सकते।"

१, भगवतीसूत्र, शतक ९, उद्देश ५। २. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, नालन्दीयाध्ययन।

"आयुष्मानों, नाक में गंधयुक्त पुद्गल प्रवेश करते हैं जिनको आपकी घ्राणेन्द्रिय अनुभव कर लेती हैं। क्या आप उनका रूप-रंग देखते हैं ?"

"नहीं, गंध के परमाणु सूक्ष्म होने से देखे नहीं जाते ?"

"आयुष्मानों, अरणि-काष्ठ में अग्नि रहती है, क्या वह आपको दिखाई पड़ती है ?"

"नहीं, हम उसे नहीं देख पाते।"

"आयुष्मानों, जिस प्रकार आप इन वस्तुओं को न देखने पर इनके अस्तित्व से इन्कार नहीं कर पाते, उसी प्रकार इस लोक में अनेक वस्तुएँ हैं जो दृश्य नहीं हैं, फिर भी उनका अस्तित्व आपको स्वीकार करना पड़ता है। यदि आप दृष्टिगत न होनेवाले पदार्थों को नहीं मानेंगे तो इस लोक में बहुत-से पदार्थों का अस्तित्व आपको अस्वीकार करना पड़ेगा।"

निगंठ ज्ञातपुत्त ने मुद्दक श्रमणोपासक द्वारा अन्यतीर्थिकों को दिये गये उत्तर का पूर्ण समर्थन किया[1] और उन परिव्राजकों ने बाद में निगंठ ज्ञातपुत्त के निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

बौद्धागमों से प्रकट होता है कि श्रमण गौतम के जीवन काल में उनके भिक्षुसंघ में भिक्षुओं की संख्या १२५० से अधिक कभी नहीं रही।[2] इसके मुकाबले में निगंठ ज्ञातपुत्त के निग्रन्थ संघ में अनगारों की संख्या चौदह हजार बतायी जाती है। इससे संकेत मिलता है कि श्रमण गौतम के जीवनकाल में उनके भिक्षुसंघ की अपेक्षा निग्रन्थ संघ कितना अधिक शक्तिशाली था।

---

१. भगवतीसूत्र, शतक १८, उद्देश ५।

२. धम्मानन्द कोसम्बी लिखित भगवान बुद्ध, पृ० १५४।

१०

निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवनकाल की सबसे मुख्य राजनीतिक घटना वैशाली गणराज्य पर मगध का आक्रमण था। उस समय श्रमण भगवान बुद्ध ही नहीं, अर्हत गोशालक भी विद्यमान थे। वैसे तो युद्ध उस काल में कोई असामान्य घटना नहीं थी, क्षत्रिय का अधिकांश जीवन ही युद्धभूमि पर बीतता था। प्रायः बलवान् राजा निर्बल पड़ोसी राजाओं का राज्य उसी प्रकार हड़प लेते थे जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवन-काल में ही मगध ने अंग को तथा कोशल ने काशी को हड़प लिया। किन्तु इन घटनाओं ने इतिहास पर वह छाप नहीं डाली जो वैशाली पर मगध के आक्रमण ने डाली। इस आक्रमण ने प्राचीन भारत के इतिहास में गणराज्यों के युग का एक प्रकार से अन्त कर दिया अथवा उस अन्त की शुरूआत कर दी। यद्यपि पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में गणराज्यों का अस्तित्व दो शताब्दी बाद सिकन्दर के आक्रमण के समय तक बना रहा, तथापि पूर्वी भारत में वैशाली गणराज्य के पराभव के बाद गणराज्यों का युग समाप्तप्राय हो गया।

सामान्य रूप से उस काल में राजा में देवत्व की भावना की जाती थी और उसके अधिकार अपरिमित थे। फिर भी दुष्ट, अत्याचारी तथा अधर्मी राजाओं के सिंहासनच्युत कर दिये जाने के उदाहरण विरल नहीं थे। गणराज्यों में शासन संचालन समूचे गण की सम्मति से किया जाता था, किन्तु नृपतंत्रात्मक राज्यों में राजा की इच्छा ही सर्वोपरि होती थी, पर वह पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं होता था। वह राज्य-कार्य सभा, समिति, मंत्री तथा पुरोहितों की सम्मति से चलाता था। वह धर्म का संरक्षक माना जाता था और धर्मविरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करता था।

उस काल में धर्म शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थों में किया जाता था। वह मनुष्य के समस्त जीवन को स्पर्श करता था और एक प्रकार से जीवन की सम्पूर्ण आचरणसंहिता प्रस्तुत करता था। वह मनुष्य के पारलौकिक जीवन को ही नहीं, उसके ऐहलौकिक जीवन को भी दृष्टिगत रखकर उसके नागरिक, सामाजिक, गार्हस्थिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का निर्देश करता था।

इसलिए उस काल के समाज में प्रचलित सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार धर्माचार्यों को राजाओं से भी ऊँचा स्थान दिया जाता था। बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा भी उनके प्रति विनय का प्रदर्शन करते थे। धर्माचार्य लोग भी अपने को किसी राजा या राज्य से सम्बद्ध नहीं मानते थे। वे समस्त वसुधा को अपना कुटुम्ब मानते थे और सभी राजाओं और राज्यों के निवासियों को धर्म में प्रतिष्ठित करना अपना मुख्य कर्त्तव्य मानते थे। इसीलिए वे प्रायः राजाओं और राज्यों के आपसी विग्रहों तथा युद्धों से अपने को अलग रखते थे।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने भी अपने निग्रन्थ संघ के सभी अनगार सदस्यों को निर्देश दे रखा था कि वे उस मार्ग से गमन न करें जिस मार्ग से कोई सेना जा रही हो। यदि किसी राज्य में राजा की मृत्यु हो और दूसरे राजा या युवराज का अभिषेक न हुआ हो, दूसरे राजा की सेना ने उस राज्य को घेर लिया हो, दो संगोत्रियों में राज्य-प्राप्ति के लिए कलह चल रही हो या अन्य कारणों से अशान्ति तथा अराजकता फैली हो, तो निग्रन्थों के लिए उस राज्य में गमन करना निषिद्ध था।[1] उनसे सभी राज्यनियमों का पालन करने की अपेक्षा की जाती थी।

फिर भी निगंठ ज्ञातपुत्त का सामान्य युद्ध-विरोधी दृष्टिकोण दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट था। वह दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के विरुद्ध थे। वह समस्त मानवजाति का हित एक मानते थे और राज्यों के हितों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं देखते थे। वह चाहते थे कि सभी राज्य एक-दूसरे के प्रति अनाक्रमण की नीति का पालन करें जिससे प्रजा को अभय प्राप्त हो। किन्तु यदि कोई राज्य अन्यायपूर्ण रीति से दूसरे राज्य पर आक्रमण कर दे तो उसका प्रतिरोध करने में वह अपने स्थूल अहिंसा व्रत का उल्लंघन नहीं मानते थे। वह सर्व-हिंसात्यागी अनगारों से भले ही अपेक्षा करते हों कि वे प्रहारकर्ता का प्रतिकार करने की अपेक्षा निर्भयतापूर्वक अपना प्राणोत्सर्ग कर दें, किन्तु गृहस्थों को ऐसे अवसरों पर शस्त्र-ग्रहण की पूरी छूट थी। आत्मरक्षा के लिए की गयी हिंसा को वह पाप नहीं मानते थे।

उस काल में अनेक धर्माचार्य यह प्रचारित करते थे कि युद्धभूमि पर प्राण-त्याग करनेवाला योद्धा सीधे स्वर्ग जाता है। किन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त न्यायपूर्ण तथा अन्यायपूर्ण युद्ध में विवेक करते थे। वह मानते थे कि सिर्फ युद्धभूमि में

---

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३९८।

ही प्राणत्याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, वरन जो योद्धा न्यायपूर्ण युद्ध करने के बाद निरपराध प्राणियों की हत्या के लिए पश्चात्ताप प्रकट करके अपने भावों को शुद्ध कर लेता है उसे ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त सामान्य रूप से युद्धरत राज्यों में विहार नहीं करते थे, किन्तु एक बार संयोगवश वह जब कौशाम्बी पहुँचे, उस नगर को चंड प्रद्योत की सेनाओं ने घेर रखा था। यह घटना उनके तीर्थंकर काल के आठवें वर्ष की है। चंड प्रद्योत ने कौशाम्बी पर यह दूसरी बार आक्रमण किया था। इससे पहले भी उसने कौशाम्बी पर चढ़ाई की थी, किन्तु वह उस पर अधिकार करने में असफल रहा था। युद्ध के दौरान राजा शतानीक की अतिसार से मृत्यु हो जाने पर रानी मृगावती ने बड़े कौशल से अपने को चंड प्रद्योत की शरणागत घोषित करके राज्य की रक्षा कर ली थी। राजा उदयन उस समय बालक था। चंड प्रद्योत रिश्ते में मृगावती का बहनोई लगता था, किन्तु वह अपने उपनाम के अनुरूप केवल चंड ही नहीं स्त्री-लम्पट भी था। रानी मृगावती का एक चित्रकार द्वारा बनाया चित्र देखकर वह उसके रूप पर आसक्त हो गया था और उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। विधवा रानी ने जब उसे अपना रक्षक मान लिया तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने सोचा, अब अपनी मनचीती पूरी हो जायगी। किन्तु रानी मृगावती उसे टालती रही। पहले उसने कहलाया : अभी मेरा पुत्र छोटा है। यदि मैं उसे अकेला छोड़ दूँगी तो शत्रु राजा उसे मार डालेंगे। इस पर चंड प्रद्योत ने अपनी राजधानी से ईंटें भिजवा कर कौशाम्बी की मजबूत किलेबन्दी करवा दी। तब रानी ने कहलाया : अब नगर को धान्य से भी पूरी तरह भर दीजिये। चंड प्रद्योत ने रानी की यह इच्छा भी पूरी कर दी। तब रानी ने सब नगरद्वार बन्द करवा दिये और चंड प्रद्योत की सेनाओं का मुकाबला करने के लिए तैयार हो गयी।

उसी काल में निगंठ ज्ञातपुत्त का कौशाम्बी की दिशा में विहार हुआ। भगवान के स्वागत में रानी ने नगर के द्वार खुलवा दिये। उनकी वन्दना करने के लिए रानी मृगावती और चंड प्रद्योत, दोनों ही समवसरण सभा में पहुँचे। रानी मृगावती ने अपने जीवन में पानी के बुलबुलों की भाँति सांसारिक सुखों की क्षणभंगुरता भली-भाँति अनुभव कर ली थी। भगवान का प्रवचन सुनने के बाद उसने भरी सभा में चंड प्रद्योत से प्रव्रज्या लेने की अनुमति माँगी। प्रद्योत

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० २०३)।

सभा में लज्जावश मना नहीं कर सका और उसने अनुमति प्रदान कर दी। चंड प्रद्योत की अंगारवती आदि आठ रानियों ने भी निग्रन्थी दीक्षा ले ली। भगवान के उपदेश के प्रभाव से उसने अपना वैरभाव त्याग दिया और कौशाम्बी के सिंहासन पर उदयन को आसीन करके अवन्ती लौट गया।[1] इस प्रकार निगंठ ज्ञातपुत्त के व्यक्तित्व के प्रभाव से कौशाम्बी और अवन्ती के बीच युद्ध टल गया।

किन्तु उनके द्वारा मगध और वैशाली के बीच युद्ध रोकने के लिए कोई प्रयास किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि दोनों राज्यों पर उनका अत्यधिक प्रभाव था। यह संकेत अवश्य मिलता है कि इस युद्ध में वह वैशाली का पक्ष न्यायपूर्ण और मगध का पक्ष अन्यायपूर्ण मानते थे। इस युद्ध के सम्बन्ध में बौद्धागमों और जैनागमों में भिन्न-भिन्न दंतकथाएँ मिलती हैं।

दीर्घनिकाय की अट्ठकथा के अनुसार गंगा के घाट से आधे योजन तक मगध राज्य की सीमा थी और आधे योजन तक वैशाली के लिच्छवियों की। गंगा से जो माल नाव द्वारा आता था उसे लिच्छवि पहले ही हस्तगत कर लेते थे, क्योंकि राजगृह की अपेक्षा वैशाली गंगा के अधिक निकट पड़ती थी। इसीलिए मगधवाले वैशालीवालों पर अत्यन्त रुष्ट रहते थे। कूणिक अजातशत्रु ने मगध के सिंहासन पर बैठने के बाद ही वैशाली गणराज्य की शक्ति नष्ट कर देने का संकल्प किया। इसी उद्देश्य से उसने गंगा के तट पर पाटलिग्राम में दुर्ग बनवाना आरम्भ कर दिया ताकि वहाँ सेना रखी जा सके। उसने अपने महामन्त्री वर्षकार को श्रमण गौतम के पास उनके विचार जानने के लिए भेजा। श्रमण गौतम ने कहा कि जब तक लिच्छवियों की एकता कायम है, उन्हें पराजित नहीं किया जा सकता। इस संकेत पर उनमें फूट डालकर उनका राज्य बलपूर्वक हस्तगत करने की योजना बनायी गयी। इस मन्त्रणा के अनुसार जब राजा ने मन्त्रिपरिषद में वैशाली पर चढ़ाई करने की बात चलायी तो वर्षकार ने उसका विरोध किया। इसके बाद ही राजा ने इस अभियोग में वर्षकार का सिर छुरे से मुड़वा कर उसे राज्य से बाहर निकाल दिया कि वह शत्रु लिच्छवियों को गुप्त रीति से सौगात भेज रहा था। लिच्छवियों ने वर्षकार का अपने राज्य में स्वागत किया और उसे अपने यहाँ विनिश्चय महामात्य (प्रधान न्यायाधीश) का वही पद प्रदान किया जो उसे मगध में प्राप्त था। तीन वर्ष के अन्दर वर्षकार ने लिच्छवियों में इतनी फूट पैदा कर दी कि अब दो

१. आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ० ९१।

लिच्छवि एक मार्ग पर एक साथ चलना तक पसन्द नहीं करते थे। तत्पश्चात् उसने अजातशत्रु को सूचना भिजवायी। अजातशत्रु ने तत्काल वैशाली पर चढ़ाई बोल दी। लिच्छवियों की एकता इतनी नष्ट हो चुकी थी कि नगाड़े पर आक्रमण की सूचना प्रचारित होने पर भी वे नगर की रक्षा के लिए एकत्र नहीं हुए। नगरद्वार खुले पड़े रहे और अजातशत्रु की सेना ने उन्हीं खुले द्वारों से नगर में प्रवेश करके उसे नष्ट कर डाला।[१]

निरयावलियाओ में वैशाली पर मगध के आक्रमण की एकदम भिन्न कथा मिलती है। उसके अनुसार कूणिक अजातशत्रु अपने पिता श्रेणिक बिम्बसार को अपदस्थ करने के बाद मगध राज्य का ग्यारह भागों में बँटवारा करके उसके एक भाग पर स्वयं राज्य करने लगा और शेष भाग काल, सुकाल, महाकाल आदि अपने दस सौतेले भाइयों में बाँट दिया, जिन्होंने श्रेणिक को सिंहासनच्युत करने के षडयन्त्र में उसका साथ दिया था।

कूणिक का सगा छोटा भाई वेहल्लकुमार था। श्रेणिक ने अपना सेचनक नामक गन्धहस्ती और अठारह लड़ियों का बहुमूल्य हार उसे सौंप दिया था। कूणिक ने जब सिंहासनारूढ होने के बाद दोनों चीजों को राज्य की सम्पत्ति मानकर उन्हें लौटाने की माँग की तो उसने इन्कार कर दिया और भाग कर अपने नाना गणराजा चेटक की शरण में वैशाली चला गया। जब कूणिक ने अपना दूत वैशाली भेजकर हाथी तथा हार के साथ वेहल्लकुमार को वापस भेजने की माँग की तो चेटक ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार कूणिक मेरा नाती है उसी प्रकार वेहल्लकुमार भी है, मैं किसी के साथ पक्षपात नहीं कर सकता। मैं न्याय का ही पक्ष लूँगा। राजा श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में ही गंधहस्ती और अठारह लड़ियों का हार वेहल्ल को दे दिया था। वेहल्ल आधे राज्य के बदले में दोनों चीजें उसे देने को तैयार है। यदि कूणिक आधा राज्य देने को तैयार हो तो मैं हाथी और हार उसे दिलवा दूँगा और वेहल्ल को भी वापस कर दूँगा।

कूणिक ने जब इसके उत्तर में दूत को दुबारा भेजकर तीनों को लौटाने की अपनी माँग दुहरायी तो चेटक ने पुनः वही बात कहलायी। इस पर कूणिक ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर दूत को आदेश दिया कि तुम जाकर चेटक के सिंहासन के पादपीठ को अपने बायें पैर से ढकेल कर और भाले की नोक पर रखकर यह

---

१. बुद्धचर्या, पृ० ४८४-८७।

पत्र देना और कहना कि या तो तीनों को लौटा दो या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

वैशाली गणराज्य मगध से कम शक्तिशाली नहीं था। गणराजा चेटक संभवतः शत्रु राजाओं को अपना चेट (सेवक) बनाकर रखने के ही कारण चेटक के नाम से विख्यात हो गया था। उसने दर्प के साथ उत्तर दिया कि मैं युद्ध के लिए तैयार हूँ और मगध के दूत को अपमानित करके सभाभवन से बाहर निकाल दिया।

इसके बाद राजा कूणिक ने अपने दस सौतेले भाइयों को बुलाकर उन्हें चतुरंगिणी सेना सजाकर वैशाली पर आक्रमण करने का आदेश दिया।

उधर गणराजा चेटक ने भी अपने १८ सहयोगी गणराजाओं—कोशल के नौ लिच्छवि तथा काशी के नौ मल्ल राजाओं को बुलाकर उनके साथ मंत्रणा की। उन सबने न्याय का पक्ष ग्रहण करने की राय दी और हाथी तथा शरणागत वेहल्लकुमार को वापस भेजने के विरुद्ध मत दिया। उन्होंने कहा कि यदि राजा कूणिक अन्यायपूर्वक चतुरंगिणी सेना लेकर वैशाली पर आक्रमण करता है तब हम सब उसके साथ युद्ध करेंगे।

राजा कूणिक ने जिस समय वैशाली गणराज्य पर आक्रमण किया, उस समय निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थंकर काल का चौदहवाँ वर्ष बीत रहा था। उन्होंने इससे पूर्व अपने तीर्थंकर काल का तेरहवाँ वर्षावास वैशाली गणराज्य की दूसरी प्रधान नगरी मिथिला में किया था। वर्षावास के बाद जब वह अंगदेश में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए चम्पा पहुँचे तो वैशाली का युद्ध आरम्भ हो चुका था। एक ओर १८ गणराजा और दूसरी ओर कूणिक तथा उसके दस भाई अपनी-अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ जूझ रहे थे।

भगवतीसूत्र तथा आवश्यकचूर्णि में भी वैशाली और मगध के भयानक संग्राम का विवरण मिलता है। इन विवरणों से संकेत मिलता है कि यह संग्राम एक वर्ष से अधिक समय तक चला। आरम्भ में वैशाली की ओर से युद्ध करने वाले १८ गणराजाओं की विजय पर विजय होती रही और कूणिक की विजय की आशा उत्तरोत्तर निराशा में परिणत होने लगी।

पहले दिन के युद्ध का सेनापतित्व राजा कूणिक के सौतेले छोटे भाई कालकुमार ने किया। इस संग्राम में मगध की ओर से ३३ हजार हाथी, ३३ हजार अश्व तथा ३३ हजार रथों ने भाग लिया, वैशाली की ओर से संग्राम में ५७ हजार हाथी, ५७ हजार अश्व तथा ५७ हजार रथ लगा दिये गये थे। दोनों

पक्षों की सेनाएँ अपनी-अपनी चिह्नयुक्त ध्वजा तथा पताकाओं से लैस थीं। मगध की सेनाओं ने गरुड़ व्यूह तथा वैशाली की सेनाओं ने शकट व्यूह की रचना करके युद्ध आरम्भ किया। कवच बँधे हाथों में प्रहरण (फेंके जानेवाले अस्त्र) तथा आयुध लिये हुए, तलवारें म्यान से निकाले हुए, कन्धों पर तूणीर (तरकस) बाँधे और धनुष की डोरी चढ़ाये हुए दोनों पक्षों के योद्धा युद्ध में सन्नद्ध हो गये। गजारोही योद्धा गजारोहियों से, अश्वारोही अश्वारोहियों से, रथारोही रथारोहियों से तथा पैदल योद्धा पैदल योद्धाओं से युद्ध करने लगे। तूर्यनादों, योद्धाओं के जयनादों, हाथियों की चिंघाड़ों तथा घोड़ों की हिनहिनाहट से युद्ध भूमि में इतना तुमुल कोलाहल मच गया कि ऐसा भासित होने लगा मानो समुद्र घनघोर गर्जना कर रहा हो। युद्धभूमि कटे रुण्ड-मुण्डों तथा रक्त की कीच से भर गयी। सन्ध्याकाल तक दोनों ओर के अगणित योद्धा मारे गये, फिर भी दोनों पक्षों की व्यूहरचना अभेद्य बनी रही।

दिवस का अवसान समीप तथा युद्ध का परिणाम अनिर्णायक देखकर मगध का सेनापति कालकुमार अपना हाथी बढ़ाकर आगे आ गया और वैशाली के सेनापति गणराजा चेटक को द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारा। दोनों सेनापतियों की आयु में भारी अंतर था। गणराजा चेटक जब कि वयोवृद्ध हो चुका था, कालकुमार अभी प्रथम वय में था। बुढ़ापे और यौवन के इस द्वन्द्वयुद्ध को देखने के लिए कुछ समय के लिए दोनों पक्षों के समस्त योद्धाओं की अपलक दृष्टि उन्हीं पर जम गयी।

गणराजा चेटक रिश्ते में मगध के सेनापति का मातामह लगता था। कालकुमार ने मातामह को प्रणाम करते हुए ललकारा : देवार्य, पहले आप ही अपने दौहित्र पर प्रहार करिये।

वयोवृद्ध चेटक ने घनगम्भीर स्वर में उत्तर दिया : पहला प्रहार जब तुम्हारी ओर से होगा तभी मैं प्रहार करूँगा, क्योंकि चेटक की यह प्रतिज्ञा जगविदित है कि वह वार करने वाले पर ही वार करता है, स्वयं अपनी ओर से किसी पर वार नहीं करता।

कालकुमार ने अपने धनुष की प्रत्यंचा कान तक खींचकर और मातामह के भाल को लक्ष्य बनाकर पूरी शक्ति से बाण छोड़ा। गणराजा चेटक ने बुढापे में भी अद्‌भुत हस्तलाघव का परिचय देते हुए उस अर्धचंद्राकार फलवाले बाण को बीच ही में काट दिया और इसके बाद अपने धनुष पर बाण चढ़ाते हुए कालकुमार को चेतावनी दी : कुमार, यदि इस वृद्ध के शर-प्रहार से अपने प्राण

बचाना चाहते हो तो रणभूमि त्याग कर वापस चले जाओ, अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तैयार हो जाओ।

कालकुमार अपने पर्वतशिला सदृश विशाल वक्षस्थल को गर्व से फुलाये हुए वीरों की भाँति रणभूमि में डटा रहा। वयोवृद्ध चेटक ने अपने अमोघ शर-प्रहार से उसका मस्तक विदीर्ण कर दिया।

सेनापति कालकुमार के धराशायी होते ही मगध की सेना में अपार शोक छा गया और वह अपने शिविरों में वापस चली गयी। वैशाली की सेना का उत्साह द्विगुणित हो गया।

दूसरे दिन के युद्ध का सेनापतित्व कूणिक के दूसरे सौतेले भाई सुकालकुमार ने किया। उसका भी वही अंत हुआ जो कालकुमार का हुआ था। इस प्रकार दस दिनों के युद्ध में एक-एक करके कूणिक के दसों सौतेले भाई गणराजा चेटक के अमोघ शर-प्रहार से युद्धभूमि पर सदा के लिए सुला दिये गये। इससे कूणिक को गहरी निराशा हुई और उसने मगध की सेना का सेनापतित्व स्वयं सँभाल लिया। उसने वैशाली की सेना के विरुद्ध दो नये महासंहारक अस्त्रों का प्रयोग किया। इनमें से एक तो महाशिलाकंटक नामक प्रक्षेपणास्त्र था और दूसरा लोहसार का बना दैत्याकार रथमूसल नामक स्वचालित रथ था।

कूणिक ने जब पहली बार युद्ध में महाशिलाकंटक यंत्र का प्रयोग किया तो वैशाली की सेना में भगदड़ मच गयी। इस यंत्र के द्वारा फेंके गये तृण, काष्ठ, पत्र, कंकड़ तथा बालुकाकणों के प्रहार से वैशाली गणराज्य के जो योद्धा आहत हुए उन सबने यही अनुभव किया कि उन पर मानों महाशिला से प्रहार किया गया है। इस अद्भुत प्रक्षेपणास्त्र के प्रयोग से युद्ध की धारा बदल गयी और कुछ ही घड़ियों में वैशाली के सहस्रों योद्धा मारे गये और सहस्रों आहत हो गये। सारी युद्धभूमि मृत अथवा आहत हाथी, घोड़े, सारथि तथा गिरी हुई ध्वजाओं और पताकाओं से पट गयी।

दूसरे दिन कूणिक ने रथमूसल का प्रयोग किया। यह अश्वरहित, सारथि-रहित, योद्धारहित तथा यमदंड सदृश मूसलसहित स्वचालित दैत्याकार रथ था जो प्रबल वेग से धरती को कँपाता हुआ जिधर से निकल जाता था उधर ही भयानक जनसंहार करता तथा रक्त की कीच उछालता हुआ प्रलय मचा देता था।

इन दोनों महाप्रलयकारी युद्धोपकरणों ने वैशाली की ओर से युद्ध करने वाले १८ गणराजाओं की सेनाओं का मनोबल तोड़ दिया और वे सब युद्धभूमि

छोड़कर चारों दिशाओं में भाग गये। गणराजा चेटक भी अवश होकर बचे-खुचे योद्धाओं के साथ वैशाली नगर के भीतर चला आया और नगर के सभी द्वार बंद करवा दिये।[1]

उत्तराध्ययन की एक टीका में जो दंतकथा मिलती है उसमें भी दीर्घनिकाय की भाँति इंगित किया गया है कि कूणिक ने वैशाली पर अंतिम विजय छलबल से प्राप्त की।

इस दंतकथा के अनुसार मगध की सेना दीर्घ काल तक वैशाली के चारों ओर घेरा डाले रही, किंतु उसे नगर के परकोटे को तोड़ने में सफलता नहीं मिली। तब कूणिक ने चम्पा नगर की मागधिका नामक गणिका की सहायता ली। चम्पा के निकट नदीकूल के निर्जन वालुका प्रदेश में एक श्रमण निरंतर तपस्यारत रहता था। कहते हैं एक बार वर्षा के बाद नदी में भयंकर बाढ़ आयी, परंतु बाढ़ का पानी जितनी शीघ्रता से चढ़ा था उतनी ही शीघ्रता से उतर गया और उसने उस स्थान के आसपास कोई क्षति नहीं पहुँचायी जहाँ पर वह श्रमण तपस्यारत रहता था। तब से वह तपस्वी कूलवालक के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। मागधिका ने श्राविका के वेश में उस तपस्वी को अपने प्रेमपाश में फँसा लिया और उसे कूणिक के पास ले आयी। कूणिक ने उसे वैशाली भेजा ताकि वह वहाँ जाकर नगर के परकोटे को भंग करने की युक्ति निकाले। कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में वैशाली नगर में सरलता से प्रवेश प्राप्त कर लिया। नगर का भ्रमण करने पर उसने वहाँ पर मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र के समकालीन अर्हत मुनि सुव्रत का एक प्राचीन स्तूप देखा। उस स्तूप पर अंकित लेख का अध्ययन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसी के प्रभाव से नगर का परकोटा अभेद्य बना हुआ है।

वैशाली के नागरिक मगध की सेना के दीर्घकालीन घेरे से तंग आ चुके थे, उन्होंने जब कूलवालक से पूछा कि नगर का घेरा कब तक रहेगा तो उसने कहा : यह स्तूप बड़े अशुभ मुहूर्त में निर्मित हुआ है। इसी के प्रभाव से नगर संकटग्रस्त है। यदि इसे तोड़ दिया जाय तो नगर का घेरा तत्काल हट जायगा। नैमित्तिक के इस वचन पर कुछ नागरिकों ने स्तूप को तोड़ना आरम्भ कर दिया, कूलवालक का संकेत पाने पर कूणिक ने कुछ समय के लिए नगर पर से अपना घेरा उठा लिया। अब तो वैशालिकों को नैमित्तिक के वचन पर पूरा विश्वास हो गया और उन्होंने उस स्तूप को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। इसके बाद

१. निरयावलियाओ, पढमो वग्गो।

कूणिक ने वैशाली पर पूरे वेग से आक्रमण करके उसके परकोटे को भंग कर दिया और नगर की उजाड़ी गयी भूमि पर गधों से हल चलवा कर उसे समतल करवा दिया। गणराजा चेटक ने वैशाली नगर के परकोटे के भंग होने का समाचार मिलने पर जलप्रवेश करके प्राण त्याग दिया।

वैशाली गणराज्य पर विजय पाने के बाद राजा कूणिक अपने को दिग्विजयी तथा अजेय समझने लगा तथा उसके अन्दर चक्रवर्ती बनने की महत्त्वाकांक्षा जाग उठी। प्राचीन जनश्रुतियों से संकेत मिलता है कि इस युद्ध में जो विपुल जनसंहार हुआ वह तीन शताब्दी बाद प्रियदर्शी अशोक द्वारा कलिंग विजय में होनेवाले नरसंहार से कम भयानक नहीं था। **भगवतीसूत्र** के अनुसार वैशाली के युद्ध में चौरासी लाख मनुष्यों का वध हुआ।[1]

निरयावलियाओ की कथा से संकेत मिलता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त वैशाली पर मगध के आक्रमण को राजा कूणिक का पाप-कर्म मानते थे, क्योंकि गौतम गणधर ने जब उनसे जिज्ञासा की कि वैशाली के विरुद्ध अभियान में मगध की सेना का सेनापतित्व करनेवाले कालकुमार, सुकाल, महाकाल आदि दस कुमार युद्ध में वीरगति प्राप्त करने के बाद कहाँ उत्पन्न होंगे, तो उन्होंने उत्तर दिया कि वे सब अपने दुष्कर्मों के कारण दीर्घकाल तक नरक में यन्त्रणाएँ भोगेंगे। जनश्रुतियों में श्रेणिक बिम्बसार की भाँति कूणिक अजातशत्रु द्वारा भी दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने, निरपराध प्राणियों का वध करने आदि पाप-कर्मों के कारण उसके नरकगामी होने की भविष्यवाणी करायी गयी है।

राजा कूणिक द्वारा वैशाली नगरी को उजाड़ कर वहाँ की भूमि पर गधों से हल चलवा दिये जाने के बाद निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने तीर्थंकर काल के जो पन्द्रह वर्षावास किये, उनमें से नौ वर्षावास उन्होंने वज्जीसंघ के मिथिला, वाणिज्यग्राम अथवा वैशाली नगरों में किये। उनके इन वर्षावासों ने निश्चय ही युद्ध में पराजय के दुःख से श्रीहत, स्वतन्त्रताप्रिय वैशालिकों के मनोबल को ऊँचा उठाने में भारी सहायता पहुँचायी होगी। वैशाली के पतन के बाद भी वहाँ उनके तीन वर्षावास होने से संकेत मिलता है कि संभवतः कूणिक वैशाली को पूरी तरह उजाड़ने में सफल नहीं हो सका।

●

१. भगवतीसूत्र, शतक ७, उद्देश ९।

११

कुछ प्राचीन जनश्रुतियों के[1] अनुसार निगंठ ज्ञातपुत्त ने कुल इकहत्तर वर्ष तीन मास पचीस दिन की आयु पायी। इसमें से उनके अट्ठाईस वर्ष सात मास और बारह दिन गृहवास में बीते। गृहत्याग के बाद उनकी नयी जीवनयात्रा आरम्भ हुई। उनका अनगार जीवन दो भागों में विभक्त किया जाता है। जब तक वह सर्वज्ञ नहीं हुए तब तक का उनका श्रमण जीवनकाल छद्मस्थ काल माना जाता है। यह काल बारह वर्ष पाँच मास और पन्द्रह दिन का था। इसके बाद स्वयंसम्बुद्ध, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने पर उनके श्रमण जीवन का तीर्थंकर काल आरम्भ हुआ। यह काल उन्तीस वर्ष पाँच मास और बीस दिन का था। इस काल में वह लोक के लिए चक्षुदाता, मार्गदाता तथा धर्मरथ-सारथि बने। उन्होंने अपने मार्ग (तीर्थ) का प्रचार करने के लिए नौ सौ योजन से अधिक क्षेत्र का ग्रामानुग्राम विहार किया। उन्होंने पूर्व में चम्पा से लेकर पश्चिम में हस्तिनापुर तथा उत्तर में श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में दशार्ण देश की राजधानी दशार्णपुर तथा सिंधु-सौवीर की राजधानी वीतभय तक की पदयात्रा की।

निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थंकर काल को मोटे तौर से दो विभागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम पन्द्रह वर्षों के विभाग को पूर्वार्ध काल कहा जा सकता है और अंतिम पन्द्रह वर्षों के विभाग को उत्तरार्ध काल। यदि हम उनके विहार-स्थलों तथा वर्षावास-स्थलों की सूची पर दृष्टिपात करें तो उससे स्पष्ट आभास मिल जाता है कि किस प्रकार उनके संदेश का प्रसार एक जनपद से दूसरे जनपद में हुआ और उनके निग्रन्थ संघ की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। उत्तरार्ध काल एक प्रकार से उनके निग्रन्थ संघ का चरम उत्कर्ष काल कहा जा सकता है।

तीर्थंकर काल का पहला वर्षावास उन्होंने राजगृह में किया। राजगृह अन्य तीर्थिकों की भाँति उनके निग्रन्थ संघ का भी केन्द्रस्थल था। राजगृह के अनेक प्रतिष्ठित नागरिक उनके श्रावक-श्राविका बन गये। इनमें महाशतक गृहपति की गिनती उनके अग्रश्रावकों में होती थी। वह चौबीस हिरण्यकोटि

---

१. कषाय पाहुड (पृ० ७४-८०)।

सम्पत्ति का स्वामी था।[1] उनकी मुख्य श्राविका सुलसा भी राजगृह की थी। वह नाग सारथि की पत्नी थी। नाग सारथि राजा श्रेणिक के पिता प्रसेनजित् का सम्बन्धी था।[2] राजगृह के अनेक गृहपति अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार सौंपकर तथा अपनी समस्त सम्पत्ति त्यागकर उनके श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये। इनमें मंकाती, किंक्रम, काश्यप, वादत्त आदि उन्हीं की भाँति केवली (सर्वज्ञ) बन गये।[3] पहले ही वर्षावास में राजा श्रेणिक के दो कुमारों—राजकुमार मेघकुमार तथा वारिषेण ने उनके निकट दीक्षा ले ली। दीक्षित होने के बाद मेघकुमार ने जब देखा कि कुमार काल में जो लोग उसकी वन्दना करते थे, उसके प्रति विनय का प्रदर्शन करते थे, उन्हीं लोगों की बन्दना दीक्षा-पर्याय में उनके ज्येष्ठ होने के कारण अब उसको करनी पड़ती है, उनके प्रति विनय का प्रदर्शन करना पड़ता है, रात में कोने में उनके पैरों के निकट सोना पड़ता है, तो उसका चित्त डाँवाडोल हो गया। परन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त ने उसे प्रतिबोधित करके उसका चित्त पुनः संयममार्ग में स्थिर कर दिया।

मेघकुमार की भाँति राजकुमार वारिषेण भी दीक्षा लेने के बाद संयम-पथ से विचलित हो गया। वह एक वेश्या के प्रेम में फँस गया और उसी के घर रहने लगा। परन्तु उसने अपने को अधिक गिरने से सँभाल लिया। कुछ समय बाद उसने पुनः संयम-मार्ग ग्रहण कर लिया।[4]

वर्षावास समाप्त होने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने मगध से विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। वह अपने जन्मस्थान क्षत्रिय-कुंडग्राम पहुँचे। ग्राम के बाहर बहुशाल चैत्य में उनका प्रवचन हुआ। उनके प्रवचन से प्रभावित होकर गृहस्थ काल में उनकी बहिन सुदर्शना के पुत्र एवं उनके जामाता जमालि ने प्रव्रज्या ले ली। उनकी पुत्री प्रियदर्शना ने भी निग्रंथी दीक्षा ले ली। उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन उनकी वन्दना करने के लिए आये।

क्षत्रिय-कुंडग्राम के निकटवर्ती ब्राह्मण-कुंडग्राम में चारों वेद तथा अन्य ब्राह्मणशास्त्रों में पारंगत ब्राह्मण ऋषभदत्त रहता था। वह भी अपनी भार्या देवानन्दा के सहित उनकी वन्दना करने आया और उनका अंतेवासी बन गया। देवानन्दा निगंठ ज्ञातपुत्त की वन्दना करते समय इतनी रोमांचित हो उठी कि

---

१. उपासक दशांग, अष्टम अध्ययन।

२. आवश्यकचूर्णि (तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ५०१-५०२ पर उद्धृत)।

३. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ४७-५०। ४. वही, पृ० १२-१७।

उसके स्तनों से दूध की धारा बह निकली।[1] यह दृश्य देखकर गौतम गणधर के मन में कौतूहल हुआ। निगंठ ज्ञातपुत्त ने उनकी जिज्ञासा शान्त करते हुए बताया : गौतम ! देवानन्दा मेरी माता है। मैं देवानन्दा का आत्मज हूँ। पुत्र-स्नेह के कारण देवानन्दा इतनी रोमांचित हो उठी।[2]

निगंठ ज्ञातपुत्त का दूसरा वर्षावास वैशाली में हुआ। राजगृह के बाद वैशाली निग्रंथ संघ का दूसरा सबसे बड़ा केन्द्र बना। निगंठ ज्ञातपुत्त भी वैशालिक थे, इसी कारण शायद प्रारम्भ में उनके अनगार शिष्यों का पार्श्वापत्य निग्रंथ श्रमणों से भेद करने के लिए उन्हें वैशालिक श्रावक कहा जाता था। बौद्धागमों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि वैशाली में बहुत-से निगंठोपासक रहते थे। वैशाली का धर्मगुरु सच्चक भी निगंठों का अनुयायी (निगंठ-पुत्त) था।

वैशाली में वर्षावास समाप्त होने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने तीर्थंकर काल के तीसरे वर्ष में वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने छद्मस्थ काल में भी कौशाम्बी की यात्रा की थी, जब आर्या चन्दना ने उनको भिक्षा दी थी। उस समय शतानीक वहाँ राज्य करता था। अब उसकी मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र उदयन वहाँ का राजा था। वह अभी बालक था, अतः उसकी माता रानी मृगावती राज्य-प्रबन्ध करती थी। कौशाम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य में निगंठ ज्ञातपुत्त के समवसृत होने पर वह बालक राजा उदयन को लेकर उनकी वन्दना करने आयी। उदयन की बुआ जयन्ती श्रमणोपासिका थी। राज्य में जो निगंठ श्रमण आते थे, उनके लिए वह शय्या योग्य स्थान का प्रबन्ध करती थी। इसीलिए वह निग्रंथ संघ में प्रथम शय्यातर के नाम से प्रसिद्ध थी। उसने निगंठ ज्ञातपुत्त के समवसरण में उपस्थित होकर उनसे अनेक प्रश्न किये। उसने पूछा : भंते ! सोना अच्छा है या जागना ?

१, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में जनश्रुति मिलती है कि श्रमण भगवान महावीर पहले ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आये, इसके बाद हरितंगमेसी (इन्द्र का आदेशपालक भेड़ के सिरवाला पुत्रदाता देवता) ने गर्भ परिवर्तन करके उन्हें क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में प्रतिष्ठित किया। यह रूपक-कथा देवकीपुत्र वासुदेव की जन्मकथा से तुलनीय है।

डा० बूलचन्द का अनुमान है कि हो सकता है कि देवानन्दा श्रमण भगवान महावीर की बाल्यकाल में धाय-माता रही हो। (देखिए, डा० बूलचन्द की अँग्रेजी पुस्तक 'लार्ड महावीर', पृ० २३)। २. भगवतीसूत्र, शतक ९, उद्देश १३३।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने उत्तर दिया : जयन्ती, कुछ मनुष्यों का सोना अच्छा है और कुछ का जागना ।

जयन्ती : भंते ! यह कैसे ?

निगंठ ज्ञातपुत्त : अधार्मिक मनुष्यों का सोना अच्छा है, क्योंकि वे यदि सोते रहेंगे तो अनेक जीवों को शोक और परिताप नहीं उठाना पड़ेगा । धार्मिक मनुष्य स्वयं जागकर दूसरों को जगा देते हैं और सबको सुख पहुँचाते हैं, इसलिए उनका जागना अच्छा है ।

जयन्ती ने पुनः प्रश्न किया : भंते ! बलवान् होना अच्छा है या निर्बल होना ?

निगंठ ज्ञातपुत्त : कुछ मनुष्यों का बलवान् होना अच्छा है और कुछ का दुर्बल होना ।

जयन्ती : भंते ! यह कैसे ?

निगंठ ज्ञातपुत्त : जो जीव अधार्मिक हैं उनका दुर्बल होना अच्छा है, क्योंकि वे यदि बलवान् होंगे तो दूसरों का अधिक उत्पीड़न करेंगे । जो जीव धार्मिक हैं उनका बलवान् होना अच्छा है, क्योंकि उनके बलवान् होने से लोक को सुख पहुँचता है ।

जयन्ती ने पुनः जिज्ञासा की : भंते ! जीव कैसे भारी और कैसे हलका होता है ?

निगंठ ज्ञातपुत्त : हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, क्रोध, मान, मोह, लोभ, ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि दोषों के सेवन से जीव भारी होता है और अपना संसार-भ्रमण बढ़ाता है । इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के पालन से जीव हलका होता है और अपना संसार-भ्रमण घटाता है ।

निगंठ ज्ञातपुत्त की इस कौशाम्बी-यात्रा में जयन्ती श्रमणोपासिका ने उनके निकट निर्ग्रंथी दीक्षा ले ली ।[1]

कौशाम्बी से निगंठ ज्ञातपुत्त ने श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया । श्रावस्ती भी निग्रंथ संघ का मुख्य गढ़ था, श्रावस्ती में ही आजीवक संघ का आचार्य अर्हत गोशालक निगंठ ज्ञातपुत्त से वाद में पराभव को प्राप्त हुआ । श्रावस्ती में

---

१. भगवतीसूत्र, पृ० १२, उद्देश २ ।

ही पुरुषादानीय पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्यानुशिष्य आचार्य केशी कुमार-श्रमण ने अपने संघ का विलयन निग्रंथ संघ में कर दिया। श्रावस्ती में निगंठ ज्ञातपुत्त के अनेक श्रावक रहते थे। इनमें शंख श्रमणोपासक प्रमुख था। उसकी पत्नी उत्पला भी श्रमणोपासिका थी।[1] श्रावस्ती के अनेक गृहपति निगंठ ज्ञातपुत्त के अनगार शिष्य बनकर उनके संघ में सम्मिलित हो गये थे। इनमें से सुमनोभद्र तथा सुप्रतिष्ठ ने साधना के क्षेत्र में विशेष ख्याति पायी।[2]

वत्स और कोशल जनपद की ग्रामानुग्राम यात्रा से लौटने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपना तीसरा वर्षावास वाणिज्यग्राम में किया। वैशाली के बाद वाणिज्यग्राम सम्भवतः निगंठ ज्ञातपुत्त का प्रिय स्थान था। उन्होंने अपने तीर्थंकर काल में राजगृह और उसके शाखानगर नालन्दा के बाद सबसे अधिक वर्षावास वैशाली और उसके शाखानगर वाणिज्यग्राम में किये। जहाँ उन्होंने राजगृह में दस तथा नालन्दा में दो वर्षावास किये, वहीं वैशाली में छह तथा वाणिज्यग्राम में पाँच वर्षावास किये।

वैशाली की भाँति वाणिज्यग्राम में भी निगंठ ज्ञातपुत्त के अनेक श्रावक रहते थे। उनका अग्रश्रावक आनन्द वाणिज्यग्राम का ही था। उनके दो अन्य प्रमुख श्रावक सुदर्शन गृहपति तथा पूर्णभद्र गृहपति भी वाणिज्यग्राम के थे।[3] वाणिज्यग्राम में सोमिल नामक एक वेदविद् ब्राह्मण आचार्य रहता था जो पाँच सौ शिष्यों को विद्यादान देता था। उसने निगंठ ज्ञातपुत्त को निरुत्तर करने के उद्देश्य से उनसे अनेक प्रश्न किये। उसने पूछा : भन्ते ! आप एक हैं या दो ?

निगंठ ज्ञातपुत्त सत्य को बहुमुखी मानते थे, इसलिए वह उसे खण्डित रूप में न देखकर अखंडित रूप में देखते थे और अपनी वाणी के द्वारा उसके केवल एक कोण को ही नहीं अनेक कोणों को प्रस्तुत करने का प्रयास करते थे। उन्होंने उत्तर दिया : सोमिल, मैं एक भी हूँ और दो भी।

सोमिल : भन्ते ! यह कैसे हो सकता है ?

निगंठ ज्ञातपुत्त : चेतन द्रव्य की दृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु उसके ज्ञान और दर्शन-उपयोग की दृष्टि से मैं दो हूँ।

सोमिल ने पुनः प्रश्न किया : भन्ते, आप शाश्वत हैं अथवा अशाश्वत ?

---

१. भगवतीसूत्र, पृ० १९।   २. अंतगड़दशाओ, अष्टम वर्ग।   ३. वही।

निगंठ ज्ञातपुत्त : सोमिल, कालातीत आत्म-द्रव्य की दृष्टि से मैं शाश्वत, अक्षय, अव्यय हूँ। किन्तु क्षण-क्षण बदलनेवाले पर्याय की दृष्टि से मैं अशाश्वत, अनित्य हूँ। जो भूत में था, वह वर्तमान में नहीं हूँ और जो वर्तमान में हूँ वह भविष्य में नहीं रहूँगा।[१]

यह सोमिल भी बाद में श्रावक-व्रती हो गया। वर्षाकाल बीतने पर निगंठ ज्ञातपुत्त ने वाणिज्यग्राम से मगध की ओर प्रस्थान किया और चौथा वर्षावास राजगृह में किया। शरदऋतु का आगमन होने पर उन्होंने अंग देश की ओर प्रस्थान किया। छद्मस्थ काल में निगंठ ज्ञातपुत्त ने चम्पा और उसके निकटवर्ती पृष्ठचम्पा नगर में तीन वर्षावास किये थे। तीर्थंकर काल में भी उन्होंने दोनों नगरों की अनेक बार यात्राएँ कीं। दोनों स्थानों पर उनके अनेकानेक व्रती श्रावक-श्राविका रहते थे। इनमें कामदेव गृहपति मुख्य था। वह १८ हिरण्य कोटि का स्वामी था और उसके पास ६० हजार पशुधन था। उसने श्रावक व्रतों को पालने में जिस दृढता का परिचय दिया, उसकी प्रशंसा स्वयं निगंठ ज्ञातपुत्र ने अपनी महती परिषद में की थी।[२]

इसी वर्ष उन्होंने सिंधु-सौवीर की राजधानी वीतभय की यात्रा की।[3] इस यात्रा में उनके अनगार शिष्यों को भूख और प्यास की कठोर परीषह सहन करनी पड़ी। गर्मी का मौसम था और कोसों तक कोई बस्ती नहीं मिलती थी। वहाँ से लौटने पर वर्षाकाल वाणिज्यग्राम में बिताया।

वर्षाऋतु समाप्त होने पर उन्होंने काशी जनपद की यात्रा की। काशी जनपद के अन्तर्गत वाराणसी और आलभिया नगरी में उनके अनेकानेक व्रती श्रावक-श्राविका रहते थे और उन्होंने इन दोनों नगरों की अनेक बार यात्राएँ कीं। वाराणसी के धनी गृहपति चुलनीपिता तथा सुरादेव की गणना उनके अग्रश्रावकों में होती थी।[४] आलभिया का चुल्लशतक गृहपति भी उनका अग्र-श्रावक था।[५] वहाँ का ऋषिभद्रपुत्र भी बहुश्रुत श्रमणोपासक माना जाता था।[६]

काशी जनपद का ग्रामानुग्राम भ्रमण करने के बाद निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने पैर पुनः मगध की ओर मोड़ दिये और वर्षाकाल राजगृह में बिताया।

---

१. भगवतीसूत्र, शतक १८, उद्देश १०। २. उपासकदशांग, द्वितीय अध्ययन।
३. भगवतीसूत्र, शतक १३, उद्देश ६। ४. उपासकदशांग, तृतीय तथा चतुर्थ अध्ययन।
५. वही, पंचम अध्ययन। ६. भगवतीसूत्र, शतक १२, उद्देश १२।

इसके बाद के दशक में उनकी चर्या के क्षेत्र मुख्य रूप से अंग, मगध, काशी, कोशल, वत्स तथा विदेह जनपद रहे और वर्षाकाल या तो राजगृह में बीता या वैशाली अथवा वाणिज्यग्राम में। अपने तीर्थंकर काल के नवें वर्ष में उन्होंने पंचाल जनपद को भी अपनी चर्या का क्षेत्र बनाया और अहिच्छत्रा तथा काम्पिल्यपुर की यात्रा की। काम्पिल्यपुर के कुंडकौलिक गृहपति की गणना उनके अग्रश्रावकों में होती थी। आजीवकों ने कुंडकौलिक को अपना श्रावक बनाने का प्रयास किया, किन्तु उसने विविध अर्थों, हेतुओं तथा युक्तियों से उन्हें निरुत्तर कर दिया।[1]

निग्रन्थ संघ में पहली फूट निगंठ ज्ञातपुत्त के केवली होने के चौदह वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में पड़ी। यह फूट उनके भानजे एवं जामाता जमालि ने डाली। वह भी अपने को जिन, अर्हत तथा केवली (सर्वज्ञ) घोषित करने लगा। भगवान के आश्रय में दस वर्ष तक स्वाध्यायरत रहने के बाद, एक बार जब भगवान वाणिज्यग्राम में अपना वर्षावास समाप्त करके ब्राह्मण-कुंडग्राम के बहुशाल चैत्य में समवसृत हुए तो उसने पाँच सौ शिष्यों के साथ पृथक् विहार करने की अनुमति माँगी। उसने तीन बार प्रार्थना की और भगवान तीनों बार मौन रहे। इसके बाद वह भगवान की वन्दना करके अपते शिष्य परिवार के साथ स्वतन्त्र रीति से विहार करने लगा।

इसके तीन वर्ष बाद जब वह श्रावस्ती के तिंदुक उद्यान में ठहरा हुआ था, पित्त-ज्वर से पीड़ित हो गया। उसके सारे शरीर में भयंकर जलन तथा पीड़ा होने लगी। उसने अपने शिष्यों से कहा : मेरे लिए शीघ्र शय्या का प्रबंध करो। मुझसे अब बैठा नहीं जाता। शिष्यों ने तथास्तु कहकर शय्या बिछाना आरम्भ कर दिया। जमालि पीड़ा से इतना व्याकुल था कि उसे एक क्षण का विलम्ब भी असह्य हो रहा था। अतः उसने फिर पूछा : देवानुप्रियों, क्या मेरे लिए शय्या का प्रबंध कर चुके या अभी कर रहे हो। शिष्यों ने उत्तर दिया : देवानुप्रिय, अभी कर नहीं चुके, कर रहे हैं।

जमालि सोचने लगा—श्रमण भगवान महावीर तो कहते हैं कि जो क्रिया की जाने लगी (क्रियमाण) हो उसे व्यावहारिक रूप में की जा चुकी (कृत) कहा जाता है। परन्तु मैं तो देखता हूँ कि क्रियाकाल में दीर्घ समय लगता है। अतएव जब तक क्रियाकाल पूरा न हो जाय तब तक क्रियमाण को कृत कहना ठीक नहीं है।

---

१. उपासकदशांग, षष्ठ अध्ययन।

यहीं से जमालि के बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई। वास्तव में जमालि ने भगवान की वाणी को सही दृष्टि से हृदयंगम नहीं किया था। भगवान का कथन सूक्ष्म दृष्टि से था, स्थूल दृष्टि से नहीं। यदि कार्य की उत्पत्ति क्रिया से ही संभव है तो क्रिया के क्षण में ही कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी, अन्यथा क्रिया का समय अन्य और कार्य का समय अन्य हो जायगा। क्रिया के समाप्त हो जाने पर कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी ?

कुछ स्थविरों ने जमालि को समझाने की कोशिश की कि आपकी दृष्टि मिथ्या है, किन्तु जब उसको प्रतिबोध नहीं हुआ तो वे उसका आश्रय त्याग कर भगवान के पास चले गये। जमालि ज्वरमुक्त होने पर ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ चम्पा पहुँचा जहाँ भगवान समवसृत थे। उसने भगवान से न अति दूर और न अति निकट खड़े होकर उनके समक्ष अपने सर्वज्ञ होने की घोषणा की। भगवान ने उसे प्रतिबोधित करने का प्रयास किया, किन्तु वह अपनी मिथ्या दृष्टि पर अड़ा रहा और उनके पास से चला गया।

जमालि के प्रति पूर्व अनुरागवश प्रियदर्शना भी १००० श्रमणियों के साथ उसी के साथ विहार करने लगी थी। एक समय प्रियदर्शना श्रमणोपासक ढंक कुंभकार की दूकान में ठहरी हुई थी। प्रियदर्शना ने ढंक को भी जमालि का श्रावक बनाने का प्रयास किया, किन्तु ढंक ने यह कहकर अपना पीछा छुड़ा लिया कि सिद्धांत की सूक्ष्म बातें हमारी समझ से परे हैं।

एक दिन जब प्रियदर्शना स्वाध्यायरत थी और ढंक कुंभकार मिट्टी के बर्तनों को पकाने के लिए उठा-उठाकर भट्ठी में रख रहा था, उसने एक अंगार उसकी संघाटी पर गिरा दिया, जिससे उसका अंचल जलने लगा। प्रियदर्शना ने कहा : श्रावक, तुमने तो मेरी संघाटी जला दी। ढंक ने उत्तर दिया : कहाँ ? फिर उसने तर्क किया कि आपके सिद्धांत के अनुसार तो जलती हुई वस्तु को जली नहीं कहा जा सकता। अतएव आपकी संघाटी जली कहाँ ? ढंक के इस उत्तर से प्रियदर्शना को प्रतिबोध हुआ और उसने जमालि को भी समझाने की कोशिश की कि आपकी दृष्टि मिथ्या है, किन्तु उसने जब उसकी बात नहीं सुनी तो वह पुनः भगवान के आश्रय में लौट आयी।

जनश्रुतियों के अनुसार धीरे-धीरे सभी अनगार जमालि अनगार का आश्रय छोड़कर भगवान के आश्रय में लौट आये और अंत में वह अकेला रह गया।[1]

---

१. निह्नववाद (अंग्रेजी अनुवाद), अध्याय २।

इस संघभेद के दो वर्ष बाद ही निग्रंथ संघ में दूसरी फूट पड़ी। भगवान के अंतेवासियों में आचार्य वसु भी थे जो चतुर्दश पूर्वधारी थे और राजगृह के गुणशील चैत्य में वास करते थे। उनका एक शिष्य तिष्यगुप्त था। एक बार आचार्य वसु अपने शिष्य को समझा रहे थे कि जीव असंख्यात प्रदेशी होता है और जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सारे शरीर को व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार उसके प्रदेश भी सारे शरीर को व्याप्त कर लेते हैं।

तिष्यगुप्त ने पूछा : भंते ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

आचार्य ने उत्तर दिया : नहीं, यह दृष्टि सही नहीं है।

शिष्य ने पुनः प्रश्न किया : क्या जीव के दो, तीन, दस या संख्यात प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है ?

आचार्य ने उत्तर दिया : नहीं, असंख्यात प्रदेश होने पर ही जीव कहा जाता है। एक प्रदेश भी कम होने पर उसे जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव लोकाकाश तुल्य माना गया है।

इस पर तिष्यगुप्त में यह दृष्टि उत्पन्न हुई कि यदि एक भी प्रदेश कम होने से जीवत्व नहीं रहता तो उस अंतिम प्रदेश को ही, जिससे उसमें पूर्णता आती है, जीव कहना चाहिए, क्योंकि यदि सभी प्रदेशों को जीव कहा जायगा तो एक जीव में असंख्य जीव मानने पड़ेंगे।

तिष्यगुप्त ने यह अनुभव नहीं किया कि आचार्य की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से थी। यदि जीव के प्रथम प्रदेश में जीवत्व नहीं माना जायगा तो उसके अंतिम प्रदेश में भी जीवत्व का निषेध हो जायगा। जीव के विभिन्न प्रदेशों की स्थिति पट (वस्त्र) के धागों की भाँति होती है। पट के एक धागे को पट नहीं कहा जा सकता, उन समस्त धागों को ही पट कहते हैं।

आचार्य वसु ने नाना युक्तियों से अपने शिष्य को प्रतिबोधित करने का प्रयास किया, परंतु जब उसने अपनी मिथ्या दृष्टि नहीं त्यागी तो उसे संघ से निकाल दिया गया।

एक बार तिष्यगुप्त स्वच्छंद विहार करता हुआ आमलकप्पा नगरी पहुँचा। वहाँ मित्रश्री नामक श्रावक रहता था। वह जब भिक्षाचर्या के लिए नगर में घूम रहा था, मित्रश्री ने उसे सादर भिक्षा के लिए आमंत्रित किया और उसके सामने नाना व्यंजन लाकर रखे। इसके बाद उसने उन सब व्यंजनों के अंतिम भाग का एक-एक कण लेकर उन्हें ग्रहण करने की प्रार्थना की। तिष्यगुप्त ने

कहा : श्रावक, क्या तुम मेरी हँसी कर रहे हो ? मित्रश्री ने उत्तर दिया : भन्ते, आप ही तो वस्तु के मात्र अंतिम प्रदेश में जीवत्व निरूपित करते हैं। यदि आप भोजन के अंतिम कण को भोजन नहीं मानेंगे तो आपका सिद्धांत मिथ्या हो जायगा।

तिष्यगुप्त ने अपनी भूल अनुभव करके अपनी मिथ्या दृष्टि त्याग दी।[1]

निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवन काल में जो दो संघभेद हुए वे गम्भीर नहीं थे और उनका निग्रंथ संघ की एकता तथा लोकप्रियता पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। जमालि तो अंत में अपने मत का अकेला अनुयायी रह गया, किन्तु तिष्यगुप्त ने अपनी मिथ्या दृष्टि का स्वयं परिमार्जन कर लिया।

निगंठ ज्ञातपुत्त के तीर्थंकर काल का उत्तरार्ध अधिकांशतः उन्हीं जनपदों की चर्या में बीता जिनका ग्रामानुग्राम विहार उन्होंने पूर्वार्ध काल में किया था। इस काल में चर्या का क्षेत्र और विस्तृत हो गया। पश्चिम में उन्होंने कुरु जनपद की राजधानी हस्तिनापुर तथा शूरसेन जनपद के मथुरा, शौरिपुर आदि नगरों का भ्रमण किया। दक्षिण में उन्होंने दशार्ण देश की राजधानी दशार्णपुर को भी अपनी चर्या का क्षेत्र बनाया। वहाँ के राजा दशार्णभद्र ने उनके निकट दीक्षा ले ली।[2] इस काल में मगध में राजगृह तथा नालंदा एवं विदेह जनपद में वैशाली, वाणिज्यग्राम तथा मिथिला उनके वर्षावास-स्थल रहे। मिथिला में उन्होंने कुल छह वर्षाकाल विताये।

निगंठ ज्ञातपुत्त के दो गणधरों—गौतम गणधर तथा आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष सभी गणधरों ने उनके जीवन काल में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया। आचार्य प्रभास ने उनके तीर्थंकर काल के पचीसवें वर्ष में, आचार्य अचलभ्राता तथा मेतार्य ने छब्बीसवें वर्ष में तथा आचार्य अग्निभूति तथा वायुभूति ने उन्तीसवें वर्ष में निर्वाण प्राप्त किया। आचार्य व्यक्त, मंडिक, मौर्यपुत्र तथा अकम्पित ने उसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया जिस वर्ष निगंठ ज्ञातपुत्त निर्वाण को प्राप्त हुए।[3]

ये सभी गणधर उनके अंतेवासी बनने के कुछ वर्षों बाद ही उन्हीं की भाँति सर्वज्ञ बन गये थे। आचार्य प्रभास, जो प्रव्रज्या के समय केवल सोलह वर्ष के थे, अंतेवासी बनने के आठ वर्ष बाद अर्थात् चौबीस वर्ष की अवस्था में ही

---

१. निह्नववाद, अध्याय ३। २. ठाणांगसूत्र (तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० २४१ पर उद्धृत)। ३. स्थिरावली ; गणधरचरित (कल्पसूत्र)।

सर्वज्ञ बन गये। आचार्य अकम्पित अंतेवासी बनने के नौ वर्ष बाद, आचार्य वायुभूति तथा मेतार्य दस वर्ष, आचार्य अग्निभूति, व्यक्त तथा अचलभ्राता बारह वर्ष तथा आचार्य मंडिक तथा मौर्यपुत्र चौदह वर्ष बाद सर्वज्ञ बन गये। किन्तु गौतम गणधर, जो संघ में सब से ज्येष्ठ थे, भगवान के साथ चौबीसों घंटे छाया की भाँति रहने के बावजूद, अपने गुरु के जीवनकाल में सर्वज्ञ नहीं बन पाये।

इससे वह अपने अंतर्मन में चिन्तित रहते थे। वह सोचते थे—मुझे भगवान के साथ रहते इतना समय हो गया। जिन लोगों ने हाल में मेरे समक्ष दीक्षा ली वे तक केवली बन गये, किन्तु मैं अभी तक केवली नहीं बन सका। क्या इस जीवन काल में मुझे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी या नहीं?[1]

गौतम गणधर ने यह अनुभव नहीं किया कि उनका चित्त कहीं पर अपने गुरु के प्रति राग की सूक्ष्म डोर से बँधा हुआ था, जिसके कारण वह पूर्ण वीत-राग नहीं बन पा रहे थे। उनके राग की इस डोर को तोड़ने के लिए ही भगवान ने निर्वाण-प्राप्ति से पूर्व उन्हें अपने पास से हटा दिया।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने श्रमण जीवन का इकतालीसवाँ वर्षाकाल राजगृह में बिताया। शरद् ऋतु का आगमन हो जाने पर भी वह कुछ समय तक राजगृह में ही ठहरे रहे। इसके बाद वह मध्यम पावा पहुँचे जहाँ केवली बनने के बाद उन्होंने ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आचार्यों को वाद में पराजित किया था और जिनको उन्होंने अपने संघ में गणधर नियुक्त कर लिया था। मध्यम पावा में राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा (शुल्कशाला) में उनके श्रमण जीवन का बयालीसवाँ और अंतिम वर्षाकाल व्यतीत हुआ।

धीरे-धीरे कार्तिक मास आधा बीत गया। निगंठ ज्ञातपुत्त की आयु का बहत्तरवाँ वर्ष चल रहा था। उन्होंने अनुभव किया कि उनका अंतकाल अब सन्निकट है। अतः उन्होंने गौतम गणधर को निकटवर्ती ग्राम के देव शर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए भेज दिया। वहीं उनको अपने गुरु की निर्वाण-प्राप्ति का संवाद मिला।

कल्पसूत्र के अनुसार भगवान का निर्वाण कार्तिक की अमावस्या को रात्रि के पिछले भाग में हुआ।[2] निर्वाण से पूर्व वह सोलह प्रहर तक प्रवचन करते

---

१. भगवतीसूत्र, शतक १४, उद्देश ७। २. तिलोयपण्णत्ति के अनुसार उनका निर्वाण कार्तिक मास की कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि में हुआ।

रहे। उनकी इस प्रवचन सभा में काशी के नौ मल्ल तथा कोशल के नौ लिच्छवि गणराजा भी उपस्थित थे। जिस समय उनका निर्वाण हुआ वह शुक्लध्यान में लीन थे। अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने ही काल में उन्होंने जन्म, जरा और मरण के बंधनों को नष्ट करके सभी दुःखों का अंत कर दिया।

गौतम गणधर को जब भगवान के निर्वाण का संवाद मिला तो उनको ऐसा बोध हुआ जैसे किसी ने उन पर वज्रपात कर दिया हो। वह अत्यंत खिन्न और स्नेहविह्वल होकर कहने लगे : प्रभो, अब यह भरतक्षेत्र आपके अभाव में वैसा ही हो गया है जैसे चन्द्रमा के राहुग्रस्त हो जाने पर आकाश अथवा दीप के अभाव में भवन हो जाता है। अब मैं किसके चरणों में प्रणत होकर पुनः-पुनः प्रश्न करूँगा ? अब मैं किसे भंते पुकारूँगा और कौन मुझे गौतम सम्बोधित करेगा ?……हाय, यह क्या हुआ ? ऐसे अवसर पर मुझे दूर क्यों कर दिया गया ? क्या मैं बालक की भाँति आँचल पकड़कर आपको मुक्ति प्राप्त करने से रोक लेता ? क्या मैं आपके लिए भारस्वरूप बन जाता कि आप मुझे छोड़कर अकेले चले गये ?

इस प्रकार कुछ देर तक भावना प्रवाह में बहने के बाद गौतम गणधर ने अपने को सँभाल लिया। वह सोचने लगे : अरे, यह मेरा कैसा मोह ? भगवान तो वीतराग थे, वह तो राग-द्वेष से परे थे। यह मेरा अपराध है कि इसका पहले नहीं बोध किया। मेरा यह एकपक्षीय स्नेह धिक्कार योग्य है। अब मैं कोई राग नहीं रखूँगा। मैं अकेला हूँ। इस दुनिया में मेरे सिवा मेरा अपना कुछ नहीं है।

इस प्रकार बोधि प्राप्त होने तथा राग के अन्तिम तन्तु को नष्ट कर देने पर, जिस रात्रि भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ, उसी रात्रि इन्द्रभूति गौतम को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।[1]

भगवान का निर्वाणोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। उसमें सहस्रों नर-नारियों ने भाग लिया। काशी-कोशल के नौ मल्ल तथा नौ लिच्छवि गणराजाओं ने भी उसमें भाग लिया। भगवान के पार्थिव शरीर को शिविका में विराजमान करके चितास्थान पर ले जाया गया। वहाँ गोशीर्ष चंदन की चिता पर उसे रखा गया। इसके बाद सुगन्धित पदार्थों, घी तथा मधु के सैकड़ों घड़े उस पर डाल

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग १३।

कर अग्नि प्रज्वलित की गयी। सम्पूर्ण शरीर दग्ध हो जाने पर चिता बुझा दी गयी और वहाँ पर एक स्तूप की रचना कर दी गयी।

पाली त्रिपिटकों के अनुसार निगंठ ज्ञातपुत्त जिस समय निर्वाण को प्राप्त हुए उस समय श्रमण गौतम जीवित थे। बुद्धप्रमुख भिक्षुसंघ के धर्म-सेनापति सारिपुत्र के छोटे भाई चुन्द समणुद्देश उस समय पावा में ही वर्षावास कर रहे थे। उन्होंने वर्षावास समाप्त होने पर यह समाचार स्थविर आनन्द को दिया। स्थविर आनन्द ने कहा : आवुस चुन्द ! भगवान के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द, जहाँ भगवान हैं वहाँ चलें, चलकर भगवान को कहें। दोनों ने जाकर यह सूचना श्रमण गौतम को दी जो उस समय शाक्यदेश में विहार कर रहे थे।[1]

कल्पसूत्र के अनुसार जिस रात्रि श्रमण भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उस रात्रि काशी-कोशल के १८ गणराजाओं ने यह सोचकर कि हमारी भाव-ज्योति चली गयी, अतः द्रव्य-ज्योति से ही हम इस जगती के अन्धकार को दूर करने का प्रयास करें, चारों ओर अगणित दीपमालाएँ जला दीं जिससे कार्तिकी अमावस्या की वह काली रात जगमगा उठी।

---

१. सामगाम सुत्तन्त (मज्झिम निकाय, पृ० ४४१-४२)।

१२

निगंठ ज्ञातपुत्त के युग-प्रभावक उत्तुंग व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्यांकन उस पार्श्वापत्यीय श्रमणधारा के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है जिसकी वह उपज थे और जिसे उन्होंने नया मोड़ प्रदान किया। इस श्रमण धारा के जीवन-मूल्य और विश्वास उन्हें घुट्टी से प्राप्त हुए थे। अर्हत पार्श्व का आविर्भाव काल (ईसा पूर्व ८७७-७७७) लगभग वही था जो आधुनिक विद्वान् प्राचीनतम उपनिषदों का रचनाकाल मानते हैं। यह अनुसंधान का रोचक विषय हो सकता है कि उपनिषदों की विचारधारा पर श्रमणों का कितना प्रभाव पड़ा है? ऋग्वेद के दशम मंडल से इस बात की पुष्टि होती है कि श्रमण विचारधारा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक विचारधारा है। वैदिक ऋषियों ने आत्मविद्या श्रमणों से ही ग्रहण की। मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त योगमुद्रावाली मोहरों के आधार पर यह असंभव नहीं कि श्रमण धारा प्राक्वैदिक हो।

निगंठ ज्ञातपुत्त के काल में अर्हत पार्श्व के अनुयायी वज्जीसंघ में ही नहीं, पड़ोसी शाक्य गणराज्य में भी फैले हुए थे। उनके समकालीन छह तीर्थंकरों में कम से कम चार पर पार्श्वापत्यीय श्रमण धारा का स्पष्ट प्रभाव था। श्रमण गौतम ने बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व अर्हत पार्श्व के मार्ग से भी तपस्या की थी। उनके द्वारा प्रतिपादित आर्य अष्टांगिक मार्ग मूलतः अर्हत पार्श्व के चातुर्याम संवर का ही रूपांतर था। अर्हत गोशालक ने भी अपने अधिकांश सिद्धांत उन्हीं की शिक्षाओं से ग्रहण किये थे। अर्हत अजित केशकम्बली तथा अर्हत प्रकुद्ध कात्यायन भी उन्हीं की भांति वृक्ष तथा जल में जीव मानते थे।[1]

परंपरागत रूप से माना जाता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त ने अर्हत पार्श्व के तीर्थ में दो मुख्य संशोधन किये।[2] पार्श्वापत्यीय श्रमण प्रव्रज्या के समय केवल समस्त पापपूर्ण कर्मों को त्यागने की प्रतिज्ञा लेते थे। इसी में अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह—इन चारों व्रतों के यावज्जीवन पालन की प्रतिज्ञा भी अंतर्भूत रहती थी। स्त्री को भी परिग्रह मानकर अपरिग्रह व्रत में स्त्री-सेवन

१. जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, पृ० २१६।

२. वही, पृ० २७६-२८० तथा जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ४८४-४९०।

का त्याग भी सम्मिलित माना जाता था। निगंठ ज्ञातपुत्र ने व्रतों की संख्या चार से पाँच करके ब्रह्मचर्य व्रत का अलग से प्ररूपण किया और अपने शिष्यों के लिए केवल समस्त पाप-पूर्ण कर्मों को त्यागने की ही नहीं, पाँचों व्रतों का यावज्जीवन पालन करने की स्पष्ट प्रतिज्ञा लेने की प्रथा भी चालू की।

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने श्रमणों के लिए दैनिक प्रतिक्रमण की प्रथा चालू की। अर्हत पार्श्व के श्रमणों के लिए प्रति दिन प्रातः तथा सायं काल गुरु अथवा उपाध्याय के निकट अपने समस्त कृत्यों की आलोचना करके दोषों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करना आवश्यक नहीं था। उनसे जब कोई दोष होता था तभी वे प्रतिक्रमण करते थे। निगंठ ज्ञातपुत्त के समय में पार्श्वापत्यीय श्रमणों में शिथिलाचार बढ़ गया था। संभवतः अपने संघ में इस प्रकार के शिथिलाचार को रोकने के लिए ही उन्होंने दैनिक प्रतिक्रमण की व्यवस्था की।

निगंठ ज्ञातपुत्त ने निग्रन्थ श्रमणों के अपने संगठन में एक और सुधार किया। पार्श्वापत्यीय श्रमणों में एक अंतर वस्त्र (अधोवस्त्र) तथा एक उत्तर वस्त्र रखने की प्रथा थी। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे इन वस्त्रों को केवल अपने पास रखें और शीतकालादि में आवश्यकता पड़ने पर ही उनका उपयोग करें और शीतकाल बीत जाने अथवा आवश्यकता न होने पर उनका परित्याग कर दें। सचेल रहने की छूट केवल उन श्रमणों के लिए थी जो शीत, डाँस, मच्छर, नग्नता आदि परीषहों को सहन करने में अपने को अशक्त अनुभव करते थे। किन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने संघ में इस छूट को समाप्त कर आचेलक्य (नग्नपने) का प्रतिपादन किया।

जातकों में भी वस्त्रों के नौ दोष गिनाये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं: (१) अति मूल्यवान् होना, (२) दूसरों पर निर्भर रहकर मिलना, (३) पहनने पर जल्दी से मलिन होना, (४) पहनने से फट जाना, (५) फिर ढूँढने पर कठिनाई से मिलना, (६) साधु जीवन से मेल न खाना, (७) चोरों के लिए चोरी करने के योग्य होना, (८) उपयोग करने से सजावट का कारण होना तथा (९) लेकर चलते समय कन्धे के लिए भार तथा लोभ होना।[1]

सम्भवतः इन्हीं कारणों से निगंठ ज्ञातपुत्त ने अपने श्रमणों के लिए दस प्रकार के आचारों में आचेलक्य को प्रथम स्थान दिया। उन्होंने आचेलक्य की

---

१. जातक, प्रथम खंड, पृ० १०।

प्रशंसा करते हुए बताया कि जो भिक्षु अचेल रहता है उसे यह चिन्ता नहीं सताती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र मागूँगा या जीर्ण वस्त्र सीने के लिए धागा मागूँगा, सुई मागूँगा, फटे को सीऊँगा, यदि वस्त्र छोटा हुआ तो उसमें अन्य वस्त्र को जोड़कर बड़ा करूँगा, बड़ा हुआ तो फाड़कर छोटा करूँगा, तब उसे पहनूँगा या ओढ़ूँगा। इसके अतिरिक्त अचेलपने में एक लाभ उन्होंने यह देखा कि वह श्रमणों के लिए तृण-स्पर्श, गर्मी, सर्दी, डाँस, मच्छर आदि के काटने की परीषहों को सहन करने में तथा तप को भले प्रकार धारण करने में सहायक होता था।[1]

किन्तु निगंठ ज्ञातपुत्त का व्यक्तित्व सुधारक मात्र का नहीं था। वे मूलतः स्वतंत्र विचारक थे और सत्य का स्वयं से साक्षात्कार करने में विश्वास करते थे। उन्होंने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया उनको पहले अपने जीवन में स्वयं आचरित करके उनकी उपयोगिता भली भाँति परख ली थी।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि निगंठ ज्ञातपुत्र ने भारतीय चिंतन धारा को क्या मौलिक योगदान दिया, तो कहना पड़ेगा कि वह उनका सापेक्षवाद[2] था। वह सत्य को एकपक्षीय नहीं, बहुपक्षीय मानते थे। वैदिक ऋषि दीर्घतमा की भाँति वह भी अनुभव करते थे कि 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (सत्य तो एक है, परन्तु विद्वान् लोग उसका नाना प्रकार से कथन करते हैं)।[3] वह सत्य की उपमा चित्र-विचित्र पुंस्कोकिल से देते थे। सत्य कोकिल की भाँति एक वर्ण के पाँववाला नहीं, अपितु नाना वर्णों के चित्र-विचित्र पाँववाला होता है। इसीलिए उसे हृदयंगम करने के लिए वह सर्वप्रथम एकांतवाद का त्याग आवश्यक मानते थे। अनेकान्त दृष्टि अपना कर ही उसे हृदयंगम किया जा सकता है।

उनके समकालीन तीर्थंकरों में श्रमण गौतम भी एकांगी दृष्टि से वस्तु पर विचार करने के विरोधी थे।[4] किन्तु इस दृष्टि का जितना अधिक विकास निगंठ ज्ञातपुत्त में हुआ उतना उस युग के अन्य किसी विचारक में नहीं। वह खण्ड-खण्ड सत्य में अखण्ड सत्य का बोध करने के लिए आवश्यक मानते थे कि वस्तु पर जितनी दृष्टियों से विचार करना संभव हो सकता है उतने प्रकार से उस

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ४१२।
२. उनकी इसी दृष्टि के आधार पर बाद के आचार्यों ने अनेकान्त अथवा स्याद्वाद दर्शन का विकास किया। ३. ऋग्वेद १.१६४.४६।
४. मज्झिमनिकाय (सुत्त ९९) में श्रमण गौतम ने अपने को विभज्यवादी कहा है।

पर विचार किया जाय। उनकी अनेकान्तवादी दृष्टि दो एकान्तवादों को मिलानेवाली मिश्रित दृष्टि नहीं, वरन् एक स्वतन्त्र दृष्टि थी, जो भेद में अभेद, एकता में अनेकता का अविरोधपूर्ण समन्वय करती थी। उनका अनेकान्तवाद उनके समकालीन तीर्थंकर अर्हत संजय बेलट्ठिपुत्र का संशयवाद नहीं था, वरन् जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही देखने की एक निश्चयात्मक दृष्टि थी।

उन्होंने अपनी इसी अनेकान्तवादी दृष्टि से अपने युग में फैले नाना वितंडावादों तथा वाग्जालों के भीतर से नाना वर्णवाले सत्य को ढूँढ निकालने का प्रयास किया। उन्होंने लोक की जो परिभाषा प्रस्तुत की वह यथार्थवाद पर आधारित थी। उनकी द्रव्य तथा पुद्गल (जड़ तत्त्व) की व्याख्या उस युग में काफी हद तक वैज्ञानिक मानी जायगी। उनके परमाणुवाद की अनेक उद्भावनाएँ सर्वथा मौलिक थीं।

उनके व्यक्तित्व में समन्वय वृत्ति प्रधान थी। उन्होंने यद्यपि आचार और विचार के क्षेत्र में किसी ऐसे नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जिसका उनके पूर्ववर्ती अर्हत पार्श्व ने न किया हो, तथापि उन सिद्धान्तों को अपने जीवन में ढालकर उन पर अपने व्यक्तित्व की नयी छाप लगा दी। उन्होंने अहिंसा और अपरिग्रह को अपने युग के सन्दर्भ में नये आयाम प्रदान किये। उन्होंने योग तथा तप की प्राचीन परम्परा को सार्थक बनाने के लिए उसका समन्वय चरित्र तथा ज्ञान से करके उसे नयी अर्थवत्ता प्रदान की। उनके लिए तप मात्र देहदंडन नहीं था, वरन् उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को कर्म में उतारने, मनोग्रन्थियों को खोलने तथा चेतना का प्रवाह निम्न तलों से उठाकर ऊर्ध्वगामी बनाने का एक साधन था।

उन्होंने परम्परा से प्राप्त कर्म सिद्धान्त का उपयोग मनुष्य के पुरुषार्थ की महिमा स्थापित करने में किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह प्रारब्ध, अदृष्ट, दैव अथवा नियति से बँधा हुआ नहीं है। वह तप से कर्मबन्धनों का नाश करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसके लिए उसे किसी देवता की प्रार्थना करने अथवा पराश्रित होने की आवश्यकता नहीं। वह अपना मुक्तिदाता स्वयं है, दूसरा कोई नहीं। उन्होंने मनुष्य की महिमा देवताओं के ऊपर प्रतिष्ठित की और देवताओं के सुखोपभोग को कर्माधीन तथा अस्थायी चित्रित करके प्रतिपादित किया कि उन्हें भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य-जन्म धारण करना पड़ता है। यदि हम प्राचीन यूनान के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उस काल के

सभ्य संसार में मनुष्य किस प्रकार अपने को देवताओं की अनुकम्पा पर आश्रित अनुभव करता था। मनुष्य की महिमा देवताओं के ऊपर प्रतिष्ठित करने का उनका प्रयास देश-काल की दृष्टि से सचमुच क्रांतिकारी माना जायगा।

उन्होंने प्राणी मात्र के प्रति समता की अनुभूति को नया सामाजिक सन्दर्भ प्रदान किया। उन्होंने वर्णव्यवस्था के मूलभूत उद्देश्य श्रम एवं कर्तव्यों के विभाजन का सिद्धान्त तो स्वीकार किया, किन्तु उसके आधार पर सामाजिक भेदभाव का समर्थन नहीं किया। उन्होंने सभी वर्णों की समानता पर बल दिया और घोषित किया कि कोई मनुष्य वर्ण-विशेष में जन्म लेने से ही उच्च नहीं हो जाता, बल्कि अपने गुणों तथा कर्मों से ही उच्च बनता है। उन्होंने बड़ी संख्या में वेदविद् ब्राह्मणों को भी अपने संघ में आकर्षित किया। इस आधार पर यह कहना गलत होगा कि वह ब्राह्मणद्वेषी अथवा वेदनिंदक थे। वह पहले श्रमणाचार्य थे जिन्होंने समाज के उत्पीडित वर्गों के साथ न्याय करने के लिए अपनी आवाज ऊँची की। उनके युग में दास तथा कर्मकर उत्पादन व्यवस्था के आवश्यक अंग थे। उन्होंने उनके साथ मानवीय व्यवहार करने पर बल दिया। सम्भवतः यह उन जैसे श्रमणाचार्यों की शिक्षाओं का ही प्रभाव था कि हमारे देश में दास-प्रथा कभी उतनी क्रूर नहीं बन सकी जितनी प्राचीन यूरोप, अफ्रीका आदि में थी।

उन्होंने जिस निग्रन्थ संघ का गठन किया उसने उनके निर्वाण के बाद कम से कम एक हजार वर्ष तक भारत के सांस्कृतिक इतिहास में युग-प्रधान भूमिका का निर्वाह किया। ईसापूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसवी आठवीं-नवीं शताब्दी में शंकराचार्य के समय तक श्रमण धारा भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख धारा रही, उसका प्रतिनिधित्व मुख्य रूप से दो श्रमण संघों ने किया—एक तो निगंठ ज्ञातपुत्र के निग्रंथ संघ ने, दूसरे श्रमण गौतम के भिक्षु संघ ने। सम्भवतः सम्राट अशोक के समय तक नाना श्रमण सम्प्रदायों में निगंठ ज्ञातपुत्त का श्रमण संघ सर्वाधिक प्रभावशाली रहा। सम्राट अशोक ने जिस मानव धर्म का प्रचार किया वह मुख्यतया सभी श्रमणाचार्यों की शिक्षाओं का सार था। उसका जीवदया पर बल देना स्पष्टतया उस पर निग्रंथ श्रमणों के प्रभाव का सूचक था।

निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के बाद सम्भवतः एक शताब्दी के अन्दर उनके निग्रंथ संघ का प्रसार पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेशों तक हो गया। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में मेसोडोनिया का राजा अलेक्जेंडर (सिकन्दर) जब ईरान

के अखामनी सम्राट दारयवहु तृतीय को परास्त कर उसके भूमध्यसागर तथा नील नदी से लेकर सिन्धु नदी तक फैले साम्राज्य पर अधिकार करता हुआ गन्धार पहुँचा तो उसके एक प्रतिनिधि ने तक्षशिला नगर के बाहर कुछ नग्न श्रमणों से भेंट की थी, जिन्हें यूनानी इतिहासकारों ने जिम्नोसोफिस्ट लिखा है। ये निग्रंथ श्रमण ही हो सकते हैं, क्योंकि श्रमण गौतम के भिक्षुसंघ के भिक्षु चीवरधारी होते थे।

जैनागमों से प्रकट होता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के ६० वर्ष पश्चात् मगध की राजसत्ता श्रेणिक बिम्बसार के वंशजों से छिनकर नन्द राजाओं के हाथ में चली गयी। नन्द राजाओं के काल में मगध राज्य का विस्तार अवन्ती तथा मथुरा तक हो गया। निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के २१० अथवा २१५ वर्ष पश्चात् मगध की राजसत्ता में पुनः परिवर्तन हुआ और वह मौर्यों के हाथ में चली गयी। मौर्यकाल में मगध साम्राज्य का विस्तार धुर दक्षिण तक हो गया।

मगध साम्राज्य के विस्तार के साथ निग्रंथ संघ का प्रसार भी मथुरा, अवन्ती तथा दक्षिण में सिंहलद्वीप तक हो गया। बौद्धागमों से प्रकट होता है कि सम्राट अशोक ने जब अपने पुत्र महेन्द्र को बुद्धशासन की प्रतिष्ठा के लिए सिंहलद्वीप भेजा तो वहाँ निग्रंथ श्रमण पहले से मौजूद थे।

ईसवी सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सम्राट हर्षवर्धन के काल में जब चीनी यात्री ह्युएनत्सांग भारत आया तो उसने पश्चिम में अफगानिस्तान से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक जहाँ-जहाँ यात्रा की उसे सर्वत्र निग्रन्थ श्रमण तथा उनके अनुयायी मिले।

प्राचीन पट्टावलियों से ज्ञात होता है कि निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के बाद ६२ अथवा ६४ वर्ष तक क्रमशः गणधर (इन्द्रभूति) गौतम, आर्य सुधर्मा तथा आर्य सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बू निग्रन्थ संघ के प्रधान रहे। ये तीनों आचार्य निगंठ ज्ञातपुत्त की भाँति केवली (सर्वज्ञ) थे। उनके बाद निग्रन्थ संघ में कोई केवली नहीं हुआ और अगले १०० अथवा ११६ वर्ष तक निग्रंथ संघ का नेतृत्व जिन आचार्यों ने किया उन्होंने यद्यपि स्वयं से साक्षात्कार करके केवल ज्ञान प्राप्त नहीं किया था, तथापि वे निगंठ ज्ञातपुत्त तथा उनसे पूर्व के समस्त श्रुत-परम्परागत ज्ञान के धारक थे, इसलिए उन्हें श्रुतकेवली कहा जाता था। यह श्रुत ज्ञान बारह अंगों में विभाजित कर दिये जाने के कारण द्वादशांग भी

कहा जाता था। आर्य भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। आर्य भद्रबाहु के बाद निग्रंथ संघ में पूर्व का ज्ञान क्रमशः लुप्त होने लगा और १८३ वर्ष पश्चात् पूर्वधरों की परंपरा समाप्त हो गयी। इसके बाद अगले ३३८ वर्षों में अंग-ज्ञान भी उत्तरोत्तर विच्छिन्न होने लगा।

आर्य भद्रबाहु के समय में मगध राज्य में बारह वर्ष का घनघोर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके फलस्वरूप निग्रंथ संघ उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान कर गया। इसी काल में निग्रंथ संघ में फूट का बीज-वपन हुआ। उत्तरापथ में जो निग्रंथ श्रमण रह गये थे उन्होंने सम्भवतः भिक्षाचर्या के समय आवरण के रूप में बायें हाथ में अर्ध फालक (आधा वस्त्रखंड) लेकर चलना और फिर श्वेत वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया। उनकी आचार्य-परंपरा भी भिन्न हो गयी, जिसके कारण उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के निग्रन्थों के बीच की खाई उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष पश्चात्, ईसवी ७९ अथवा ८२ में निग्रंथ संघ दो भागों में बँट गया। दक्षिणापथ के निग्रंथों ने बाद में अपने को मूल संघ घोषित किया तथा उत्तरापथ का निग्रंथ संघ श्वेतपट संघ के नाम से पुकारा जाने लगा। दोनों संघों ने श्रुत ज्ञान (श्रुतागमों) को अलग-अलग पुस्तकारूढ किया।

श्वेतपट संघ ने श्रुतागमों को संकलित करने के लिए पहला श्रमण सम्मेलन निगंठ ज्ञातपुत्त के निर्वाण के लगभग १५५ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में आयोजित किया। अन्तिम श्रुतकेवली आर्य भद्रबाहु इस सम्मेलन के समय वर्तमान थे, किन्तु महाप्राण नामक तप में लीन होने के कारण वे उसमें भाग न ले सके। इस सम्मेलन में आगम ग्रन्थों का जो पाठ निर्धारित हुआ वह पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ईसवी ३००-३१३ के आसपास उत्तरापथ में पुनः द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण आगम ज्ञान पुनः विच्छिन्न हो गया। फलतः उत्तरापथ के श्रमणों का दूसरा सम्मेलन मथुरा में हुआ, जिसमें आगम ग्रन्थों का पाठ फिर से निर्धारित किया गया जो माथुरी-वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी काल में सौराष्ट्र के वलभी नगर में दक्षिणापथ के श्रमणों का भी एक सम्मेलन हुआ, किन्तु दोनों सम्मेलनों में समन्वय नहीं हो सका, अतः आगम ग्रन्थों में काफी पाठान्तर प्रचलित रहे। फलतः लगभग डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् ईसवी ४५४

अथवा ४६७ सन् में वलभी में दूसरा सम्मेलन हुआ, जिसमें पूर्व की दोनों वाचनाओं में समन्वय स्थापित करके आगम ग्रन्थों के पाठ को अन्तिम रूप से पुस्तकारूढ किया गया।

मूल संघ में भी आगम ग्रन्थों को पुस्तकारूढ करने का प्रयास ईसवी प्रथम शताब्दी में आन्ध्र प्रदेश में वेण्णा नदी के तट पर बसे वेण्णानगर में होनेवाले यति सम्मेलन के बाद प्रारम्भ कर दिया गया।

संघभेद के बावजूद दोनों संघों के आचार्यों ने ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में जिन ग्रन्थों की रचना की, उनमें वैसा कोई सैद्धान्तिक मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता जैसा श्रमण गौतम के निर्वाण के बाद उनके भिक्षु संघ में उत्पन्न हो गया। दोनों संघों के आचार्यों में जिन सैद्धांतिक बातों को लेकर मतभेद था, वे अत्यन्त गौण थीं। उनमें मतभेद के मुख्यतया तीन विषय थे : एक, क्या स्त्रियों को इसी भव में मुक्ति प्राप्त हो सकती है ? दो, क्या केवली आहार ग्रहण करते हैं ? तीन, क्या वस्त्रधारी मुनि भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है ? श्वेतपट संघ जब कि इन तीनों बातों को मानता था, मूल संघ उनको नहीं मानता था।

ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में निग्रन्थों में एक तीसरा संघ भी था जो आचेलक्य के प्रश्न पर मूलसंघ का अनुगामी तथा उक्त तीन सैद्धान्तिक प्रश्नों पर श्वेतपट संघ का अनुगामी था। यह यापनीय संघ कहलाता था। इस संघ के अनुगामी उत्तरापथ में भी थे और दक्षिणापथ में भी।

ईसवी चौथी शताब्दी के बाद श्वेतपट संघ तथा मूल संघ, दोनों के अनुयायियों ने वनवास त्याग कर चैत्यवास (अथवा मठवास) आरम्भ कर दिया। इन संघों के आचार्य अपने को भट्टारक कहते थे। दोनों संघों के भट्टारकों के रहन-सहन में आचेलक्य को छोड़कर और कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों संघों में उग्र मतभेद संभवतः आठवीं शताब्दी के बाद प्रारम्भ हुआ जब उन्होंने अपने अलग-अलग जिनालय बनाने प्रारम्भ कर दिये।

पुरातात्त्विक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में मथुरा क्षेत्र में निगंठ ज्ञातपुत्त की मूर्ति-पूजा प्रचलित हो गयी थी तथा निग्रन्थ संघ में उन्हें चौबीस तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर माना जाने लगा था। निग्रन्थ धर्म उस काल में लोकधर्म का रूप ग्रहण कर चुका था। उस काल में जनसाधारण में अर्हतों के स्मारकरूप स्तूपों की पूजा का विशेष प्रचलन था। इन स्तूपों के चारों द्वारों पर पूजापट्ट के रूप में एक वर्गाकार अथवा आयताकार शिलापट्ट

होता था जिस पर कुछ प्रतीक उत्कीर्ण होते थे। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर मूर्ति भी उत्कीर्ण रहती थी। इन शिलापट्टों को आयागपट्ट कहते थे। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के ऐसे कई आयागपट्ट मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इन आयागपट्टों में एक विदेशी महिला द्वारा दान किया हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि निग्रन्थ संघ क्षत्रपों के राज्यकाल में अनेक विदेशियों को भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ था।

मथुरा से प्राप्त प्राचीन अभिलेखों से कुछ रोचक तथ्य प्रकाश में आये हैं। एक तो यह कि निग्रन्थ धर्म स्त्रियों में विशेष लोकप्रिय था। दूसरे, वह समाज के सभी वर्गों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ था। तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित करानेवालों अथवा अर्हत प्रासादों में तोरण, वेदीगृह, पूजा-मंडप, जलाशय आदि का निर्माण करानेवालों में श्रेष्ठि-भार्या, काष्ठ-वणिक, मणिकार, लोहवणिक, गंधी (इत्र-तेल के व्यापारी), लोहारपुत्र, नर्तक की भार्या, गणिका आदि के नाम मिलते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उत्तरी भारत में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान होने के बाद निग्रन्थों का मुख्य गढ़ दक्षिण व पश्चिमी भारत बन गया। दक्षिण भारत में मूलसंघ तथा पश्चिम भारत में श्वेतपट संघ ने अपना प्रभाव-विस्तार विशेष रूप से किया। इस काल में निग्रन्थ संघ ने तर्कशास्त्र में निपुण अनेक विद्वान् उत्पन्न किये, जिन्होंने पाटलिपुत्र, कलिंग, सिंध, पंजाब, मालवा तथा विदिशा से लेकर दक्षिण में कांची तक वाद-भेरी बजायी और अपनी वाग्मिता से शास्त्रार्थ में अनेक पर-मतावलम्बियों का मान-भंग किया।

ईसवी पाँचवीं से दसवीं शताब्दी तक निग्रन्थ धर्म दक्षिण भारत का प्रमुख धर्म रहा। दक्षिणापथ के कई शक्तिशाली राजवंशों के शासक, उनके सामन्त, सरदार, मन्त्री, सेनापति, दण्डनायक, प्रतिष्ठित राजपुरुष तथा राज्य एवं नगर-श्रेष्ठी जिन धर्म के अनुयायी रहे। उन्होंने कलापूर्ण गुहा-मन्दिरों तथा जिनालयों का निर्माण कराया। ये जिनालय कई शताब्दियों तक ज्ञान, विद्या तथा संस्कृति के केन्द्र रहे। इनको अपना वासस्थान बनाकर अनेक युग-प्रधान आचार्यों ने केवल धार्मिक साहित्य की ही रचना नहीं की; वरन व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकार, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा, स्थापत्य, शिल्प, संगीत, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर भी ग्रन्थ-रचना की। उन्होंने अपने समय की साहित्य की सभी प्रचलित विधाओं को अपनाया।

उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत साहित्य को ही समृद्ध नहीं बनाया, वरन् तमिल, कन्नड़ आदि प्रादेशिक भाषाओं के अभ्युदय में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

यह निगंठ ज्ञातपुत्त की शिक्षाओं तथा उनकी संगठन कुशलता का ही प्रभाव माना जायगा कि सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर भी निग्रन्थ संघ के साधुओं में उस मात्रा में शिथिलाचार का प्रवेश नहीं हो पाया जिस मात्रा में श्रमण गौतम के भिक्षु संघ में उसका प्रवेश हुआ। निग्रन्थ साधुओं ने बराबर चरित्र, सदाचरण तथा त्यागपूर्ण संयमित जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सामने रखा। उन्होंने जनसाधारण में सदाचरण का प्रचार करने में विशेष उत्साह दिखाया। वे सदा एकान्तवाद के विरुद्ध मुखर रहे तथा सर्वधर्म-सहिष्णुता एवं समन्वयवाद की प्रवृत्ति को बराबर बढ़ावा देते रहे। उनका लक्ष्य सदा गुण-पूजा रहा, व्यक्ति-पूजा नहीं। उन्होंने संकीर्णतावादी मनोवृत्ति से अपने को बराबर दूर रखा। इसी के फलस्वरूप आठवीं शताब्दी के एक निग्रन्थवादी आचार्य घोषणा कर सके :

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥[1]

महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है। जिसका वचन युक्तियुक्त है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

●

१. आचार्य हरिभद्र सूरि, लोकतत्त्वनिर्णय।

परिशिष्ट

निगंठ ज्ञातपुत्त के जीवनकाल की मुख्य तिथियाँ

(जैनागमों के आधार पर)

ईसा पूर्व ५९९—चैत्र शुक्ल त्रयोदशी (३० मार्च) को वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली के निकट क्षत्रिय-कुंडग्राम में ज्ञातृकुल में जन्म। पिता के तीन नाम—सिद्धार्थ, श्रेयांस तथा यशस्वी। गोत्र—काश्यप। माता के तीन नाम—त्रिशला, विदेहदिन्ना तथा प्रियकारिनी। गोत्र—वासिष्ठ।

ईसा पूर्व ५७१—२८ वर्ष की अवस्था में माता-पिता का देहावसान।

ईसा पूर्व ५७०—मार्गशीर्ष वदी दशमी (११ नवम्बर) को गृहत्याग करके अन-गार श्रमण बन जाना।

ईसा पूर्व ५६९—केवल ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व साढ़े बारह वर्ष के छद्मस्थ काल का प्रथम वर्षावास आस्थेक ग्राम (वज्जीसंघ) में।

ईसा पूर्व ५६८—छद्मस्थ काल का द्वितीय वर्षावास नालंदा में।

ईसा पूर्व ५६७—चम्पा में छद्मस्थ काल का तृतीय वर्षावास।

ईसा पूर्व ५६६—छद्मस्थ काल का चतुर्थ वर्षावास पृष्ठ चम्पा में। वर्षाकाल समाप्त होने पर लाढ़ देश की पहली यात्रा, जहाँ अनेक उप-सर्ग सहन करने पड़े।

ईसा पूर्व ५६५—भद्धिया (अंग देश) में छद्मस्थ काल का पाँचवाँ वर्षावास।

ईसा पूर्व ५६४—छद्मस्थ काल का छठा वर्षावास पुनः भद्धिया में।

ईसा पूर्व ५६३—आलंभिया (काशी जनपद) में छद्मस्थ काल का सातवाँ वर्षा-वास।

ईसा पूर्व ५६२—छद्मस्थ काल का आठवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५६१—लाढ़ देश की दूसरी बार यात्रा। इस बार भी वहाँ घनघोर उपसर्ग सहन करने पड़े। कोई आश्रय स्थल न मिलने पर छद्मस्थ काल का नवाँ वर्षाकाल पेड़ों के नीचे अथवा खण्डहरों में बिताया।

ईसा पूर्व ५६०—लाढ देश से लौटने के बाद छद्मस्थ काल का दसवाँ वर्षावास श्रावस्ती में।

ईसा पूर्व ५५९—वैशाली में छद्मस्थ काल का ग्यारहवाँ वर्षावास।

ईसा पूर्व ५५८—छद्मस्थ काल का बारहवाँ तथा अन्तिम वर्षावास चम्पा में।

ईसा पूर्व ५५७—वैशाख शुक्ल दशमी (२६ अप्रैल) को जंभिय ग्राम (कुछ विद्वानों के अनुसार राजगृह से लगभग ३० मील पर वर्तमान जमुई ग्राम) में केवल ज्ञान की प्राप्ति। केवल ज्ञान-प्राप्ति के ६६वें दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (१ अगस्त) को मगध की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर प्रथम प्रवचन, जिसमें मगधराज श्रेणिक बिम्बसार अपनी रानी चेलना के सहित उपस्थित। परंपरागत रूप से माना जाता है कि उनके इसी प्रवचन से उनके तीर्थ (चतुर्विध संघ) की स्थापना हुई। तीर्थंकर बनने के बाद तेरहवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५५६—विदेह जनपद में विहार तथा चौदहवाँ वर्षावास वैशाली में।

ईसा पूर्व ५५५—वत्स तथा कोशल जनपद में विहार तथा पन्द्रहवाँ वर्षावास वाणिज्यग्राम (वज्जी संघ) में।

ईसा पूर्व ५५४—मगध में विहार तथा सोलहवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५५३—अंग व विदेह जनपद में विहार तथा सत्रहवाँ वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

ईसा पूर्व ५५२—काशी जनपद में विहार तथा अठारहवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५५१—मगध जनपद में विहार तथा उन्नीसवाँ वर्षावास पुनः राजगृह में।

ईसा पूर्व ५५०—वत्स जनपद में विहार तथा बीसवाँ वर्षावास वैशाली में।

ईसा पूर्व ५४९—विदेह, कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इक्कीसवाँ वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

ईसा पूर्व ५४८—मगध में भ्रमण तथा बाईसवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५४७——कोशल जनपद में विहार तथा तेईसवाँ वर्षावास वाणिज्य-ग्राम में ।

ईसा पूर्व ५४६——वक्त तथा मगध जनपद में विहार तथा चौबीसवाँ वर्षावास राजगृह में ।

ईसा पूर्व ५४५——अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा पचीसवाँ वर्षावास मिथिला में ।

ईसा पूर्व ५४४——अंग जनपद में विहार तथा छब्बीसवाँ वर्षावास पुनः मिथिला में ।

ईसा पूर्व ५४३——कोशल जनपद में विहार तथा सत्ताईसवाँ वर्षावास पुनः मिथिला में ।

ईसा पूर्व ५४२——कोशल, पंचाल तथा कुरु जनपद में विहार तथा अट्ठाईसवाँ वर्षावास वाणिज्यग्राम में ।

ईसा पूर्व ५४१——मगध जनपद में भ्रमण तथा उन्तीसवाँ वर्षावास राजगृह में ।

ईसा पूर्व ५४०——अंग तथा विदेह जनपद में विहार तथा तीसवाँ वर्षावास वाणिज्यग्राम में ।

ईसा पूर्व ५३९——कोशल तथा पंचाल जनपद में विहार तथा इकतीसवाँ वर्षा-वास वैशाली में ।

ईसा पूर्व ५३८——विदेह, कोशल तथा काशी जनपद में विहार तथा बत्तीसवाँ वर्षावास पुनः वैशाली में ।

ईसा पूर्व ५३७——मगध तथा अंग जनपद में विहार तथा तेतीसवाँ वर्षावास राजगृह में ।

ईसा पूर्व ५३६——मगध में विहार तथा चौंतीसवाँ वर्षावास नालन्दा में ।

ईसा पूर्व ५३५——विदेह जनपद में विहार तथा पैंतीसवाँ वर्षावास वैशाली में ।

ईसा पूर्व ५३४——कोशल, पंचाल, शूरसेन तथा विदेह जनपद में विहार तथा छत्तीसवाँ वर्षावास मिथिला में ।

ईसा पूर्व ५३३——मगध में विहार तथा सैंतीसवाँ वर्षावास राजगृह में ।

ईसा पूर्व ५३२——मगध में विहार तथा अड़तीसवाँ वर्षावास नालंदा में ।

ईसा पूर्व ५३१——विदेह जनपद में विहार तथा उन्तालीसवाँ वर्षावास मिथिला में ।

ईसा पूर्व ५३०—विदेह जनपद में विहार तथा चालीसवाँ वर्षावास मिथिला में।

ईसा पूर्व ५२९—मगध में विहार तथा इकतालीसवाँ वर्षावास राजगृह में।

ईसा पूर्व ५२८—मगध में विहार तथा बयालीसवाँ वर्षावास मध्यम पावा में।

ईसा पूर्व ५२७—दीपावली को मध्यम पावा में ७२ वर्ष की आयु में निर्वाण।

सूचना—श्वेताम्बर परम्परा में मान्य **कल्पसूत्र** में निगंठ ज्ञातपुत्त की निर्वाण तिथि कार्तिक कृष्ण अमावस्या लिखी है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में मान्य **तिलोयपण्णत्ति** (लगभग ईसवी २०० की रचना) तथा **उत्तर पुराण** (रचनाकाल नवीं शताब्दी) आदि ग्रन्थों में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी लिखी है। संभवतः इस मतभेद का कारण यह है कि दक्षिण में दीपावली कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को तथा उत्तर में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को मनायी जाती है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. मूल ग्रन्थ

आचारांगसूत्रम्, प्रथम श्रुतस्कंध, व्याख्याकार—श्री आत्मारामजी महाराज, लुधियाना, १९६३।

आचारांगसूत्रम्; द्वितीय श्रुतस्कंध, व्याख्याकार—श्री आत्मारामजी महाराज, लुधियाना।

कल्पसूत्र, विवेचक—श्री देवेन्द्र मुनि, गढ़ सिवाना (राजस्थान), १९६८।

श्री उपासकदशांगसूत्रम्—आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज, लुधियाना, १९६४।

श्री विपाकसूत्रम्, अनुवादक—श्री ज्ञानमुनिजी, लुधियाना, संवत् २०१०।

भगवतीसूत्र (पाँच भाग), संपादक—पं० घेवरचंदजी बांठिया 'वीरपुत्र', सैलाना।

उवासगदसाओ (अंग्रेजी में), संपादन—डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३०।

विवागसूयं (अंग्रेजी में), संपादन—डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३५ (द्वितीय संस्करण)।

अंतगड़दसाओ तथा अणुत्तरोववाइय दशाओ (अंग्रेजी में), संपादक—एम० सी० मोदी, अहमदाबाद, १९३२।

उत्तराध्ययन सूत्र, संपादक—रतनलाल दोशी, सैलाना (म० प्र०), वीर संवत् २४८९ (तृतीयावृत्ति)।

नियरावलियाओ (अंग्रेजी में), संपादक—ए० एस० गोपानी तथा बी० एस० चोकसी, अहमदाबाद, १९३४।

ठाणांगसूत्र (पाँच भाग), अनुवाद—श्री घासीलालजी महाराज, अहमदाबाद।

आवश्यकचूर्णि (२ भाग), श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (पूर्वभाग १९२८, उत्तर भाग १९२९)।

आचार्य जिनभद्र कृत विशेषावश्यक भाष्य (अंग्रेजी में तीन भाग), संपादक—दलसुख मालवणिया, अहमदाबाद।

जयधवला सहित कषायपाहुड़, संपादक—पं० फूलचन्द्र, पं० महेन्द्रकुमार तथा पं० कैलासचन्द्र, चौरासी (मथुरा), १९४४।

तिलोय-पण्णत्ती (भाग १ व २), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५६।
उत्तर पुराण, संपादक व अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन, वाराणसी, १९४४।
हरिवंश पुराण (दो भाग), संपादक—पं० दरबारीलाल, बम्बई।
महाकवि असग-रचित महावीर चरियं।
त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र (४ भाग, अंग्रेजी में) अनुवाद—हेलेन जानसन (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज), बड़ोदा।

२. अन्य ग्रन्थ

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, लेखक—पं० बेचरदास दोशी, वाराणसी, १९६६।
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता, वाराणसी, १९६६।
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, लेखक—डा० मोहनलाल मेहता, वाराणसी, १९६७।
जैन साहित्य का इतिहास—पूर्वपीठिका, लेखक—पं० कैलासचन्द्र, वाराणसी (वीर संवत् २४८९)।
जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन, वाराणसी, १९६५।
जैन धर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग), आचार्य श्रीहस्तीमलजी महाराज, जयपुर (राजस्थान), १९७१।
जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, बलभद्र जैन, दिल्ली (वीर संवत् २५००)।
जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, परमानन्द शास्त्री, दिल्ली (वीर संवत् २५००)।
बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ (बनारस), १९५२ (द्वितीय संस्करण)।
दीर्घनिकाय, अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप, सारनाथ (बनारस), १९३६।
मज्झिम निकाय, अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ (बनारस), १९३३।
जातक (६ खंड)—भदंत आनंद कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
भगवान बुद्ध, धम्मानन्द कोसम्बी (अनुवाद—श्रीपाद जोशी), दिल्ली, १९५६।
सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९५३।

पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, बनारस (सं० २०१२)।
हिन्दू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवाद—वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली (पंचम संस्करण)।

भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास—डा० विमलचन्द्र पांडेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९६०।

कौटिल्य की राज्य व्यवस्था—डा० श्यामलाल पांडेय, लखनऊ (सं० २०१३)।
प्राचीन भारतीय लिपिमाला—पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, दिल्ली (तीसरा संस्करण, सं० २०१६)।

तीर्थंकर महावीर (भाग १ व २)—जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि, बम्बई (प्रथम भाग १९६०, दूसरा भाग १९६२)।

श्रमण महावीर—मुनि नथमल, लाडनू (राजस्थान)।
महावीर और बुद्ध की समसामयिकता—मुनि श्री नगराज डी० लिट०, दिल्ली, १९७१।

३. अंग्रेजी ग्रन्थ

Jain Sutras, Part I, Ākāranga Sutra and Kalpa Sutra by Hermann Jacobi, Delhi, Second Reprint, 1966.

Jain Sutras, Part II, Uttarādhyayana Sutra and Sūtrakritanga Sutra, by Hermann Jacobi, Delhi, Second Reprint, 1968.

Gandharvavāda, by Eother E. Solomon, Ahmedabad, 1966.
Nihnava-Vad (Shramana Bhagwan Mahavir, Vol IV), Muni Ratnaprabha—Vijaya, Ahmedabad, 1947.

Shramana Bhagwan Mahavira (Vol II, Part I & II) Muni Ratnaprabha Vijaya, Ahmedabad, 1951.

Mahavir : His life and Teachings, Bimala Churn Law, London, 1937.

Lord Mahavir, Dr. Bool Chand, Banaras.
Jain Yoga, K. Williams, London, 1963.
The Heart of Jainism, Sinclair Stevenson, New Delhi, 1970.

The Jain Sources of the History of Ancient India, Dr. Jyoti Prasad Jain, Delhi, 1964.

Studies in Jain Art, Umakant Shah, Banaras, 1955.

History aud Culture of the Indian People, Part II, edited by R. C. Majumdar, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay.

Light on Early Indian Society and Economy, Ram Sharan Sharma (Patna University).